TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL LIBRARY
OU_182521
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H831/J25Dh Accession No. G.H. 741

Author जैन, जैनेन्द्र कुमार।

Title ध्रुव-यात्रा। 1944

This book should be returned on or before the date last marked below.

सामयिक साहित्य-माला का पाँचवाँ पुष्प । सम्पादक—श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

ध्रुव-यात्रा

(कहानी-संग्रह)

लेखक—

श्री जैनेन्द्रकुमार जैन

प्रकाशक—

सामयिक साहित्य-सदन (रजिस्टर्ड),

चेम्बरलेन रोड, लाहौर ।

प्रकाशक—
श्री उमाशंकर त्रिवेदी एम० ए०,
व्यवस्थापक—सामयिक साहित्य-सदन,
चेम्बरलेन रोड, लाहौर ।

प्रथम संस्करण, फ़रवरी १९४४ ।

युद्ध-जनित मूल्य २।)

मुद्रक—
श्रीकृष्ण दीक्षित,
बाम्बे मैशीन प्रैस,
मोहनलाल रोड ।
लाहौर ।

सूची

				पृष्ठ
१	ध्रुव-यात्रा	...	...	३
२	जय-संधि	...	...	२५
३	बीऽट्रिस	...	...	५१
४	रत्न-प्रभा	...	...	८४
५	उर्वशी	...	...	११३
६	पूर्ववृत्त	...	...	१३३
७	परावर्तन	...	...	१५१
८	चालीस रुपये	...	...	१६५
६	किसका रुपया	...	...	१६४

—:०:—

ध्रुव-यात्रा

और अन्य कहानियाँ

ध्रुव-यात्रा

(१)

राजा रिपुदमनबहादुर उत्तरी ध्रुव को जीत कर योरुप के नगर-नगर से बधाइयाँ लेते हुये हिन्दुस्तान आ रहे हैं। यह ख़बर अख़बारों ने पहले सफ़े पर मोटे अक्षरों में छापी।

उर्मिला ने ख़बर पढ़ी और पास पालने में सोते शिशु का चुम्बन लिया।

अगले दिन पत्रों ने बताया कि योरुप के तट एथेन्स से हवाई जहाज़ पर भारत के लिये रवाना होते समय उन्होंने योरुप के लिये संदेश माँगने पर कहा कि उसे अद्भुत की पूजा की आदत छोड़नी चाहिये।

उर्मिला ने यह भी पढ़ा।

अब वह बम्बई आ पहुँचे हैं, जहाँ स्वागत की ज़ोर शोर की तैयारियाँ हैं। लेकिन उन्हें दिल्ली आना है। नागरिक आग्रह कर रहे हैं और शिष्ट-मंडल मिल रहा है। उसकी प्रार्थना सफल हुई तो वह दिल्ली के लिये कल रवाना हो सकेंगे। अख़बार के

विशेष प्रतिनिधि का अनुमान है कि उनको झुकाना कठिन होगा। वह यद्यपि सब से सौजन्य से मिलते हैं, पर यह भी स्पष्ट है कि उनको अपने सम्बन्ध के प्रदर्शनों में उल्लास नहीं है। सम्वाददाता ने लिखा है, 'मैं मिला तब उनका चेहरा ऐसा था कि वह यहाँ न हों, जाने कहीं दूर हों।'

उर्मिला ने पढ़ा और पढ़ कर अख़बार अलग रख दिया।

सचमुच राजा रिपुदमन बम्बई नहीं ठहर सके। छपते-छपते की सूचना है कि आज सवेरे के झुटपुटे में उनका जहाज़ निर्विघ्न दिल्ली पहुँच गया है।

एक दिन, दो दिन, तीन दिन। उर्मिला रोज़ अख़बार पढ़ती है। इन दिनों वह कहीं बाहर नहीं गई। राजा रिपु को लोग अवकाश नहीं दे रहे हैं। सुना जाता है कि वह दिल्ली छोड़ेंगे। कहाँ जायँगे, इसके कई अनुमान हैं। निश्चय यह है कि जायँगे किसी कठिन यात्रा पर।

उर्मिला ने सदा की भाँति यह भी पढ़ लिया।

चौथे दिन एक बड़ा मोटा-सा लिफ़ाफ़ा उसे मिला। अन्दर ख़त संक्षिप्त था। पढ़ा, और उसी तरह मोड़ कर लिफ़ाफ़े में रख दिया। फिर बच्चे की ओर ध्यान दिया। वह जगने को तैयार न था। फिर भी उठा कर उसे कन्धे से लगाया और कमरे में डोलने लगी।

(२)

इधर राजा रिपुदमन को अपने से शिकायत है। उन्हें नींद कम आती है। मन पर पूरा काबू नहीं मालूम होता। सामने की चीज़ पर एकाग्र होने में कठिनाई होती है। नहीं चाहते, वहाँ ख़याल जाते हैं। कभी तो अपनी ही कल्पनाओं से उन्हें डर लगने लगता है। अभी योरुप से आते हुए ऊपर आसमान की तरह नीचे भी गहन और अपार नीलिमा को देख कर उन्हें होता था कि क्यों इस जहाज़ से मैं इस सागर में कूद नहीं पड़ूँ। सारांश इसी तरह की अस्त-व्यस्त बातें उनके मन में उठ आया करती हैं और वह अपने से असंतुष्ट हैं।

योरुप में ही उन्होंने मानसोपचार के सम्बन्ध में आचार्य मारुति की ख्याति सुनी थी। भारत में, और तिस पर दिल्ली में रह कर वह जिन मारुति को नहीं जानते थे, उन्हीं के विषय में योरुप के देशों से वह बड़ी श्रद्धा लेकर लौटे हैं। इसलिये अवकाश पाते ही वह उनकी शरण में पहुँचे। यह यद्यपि सन् १६६० की बात है कि जिस वर्ष आचार्य का देहान्त हुआ, पर उस समय वह जीवित थे।

अभिवादन पूर्वक आचार्य ने कहा—"वैद्य के पास रोगी आते हैं। विजेता मेरे किस सौभाग्य से आये हैं?"

रिपु—"रोगी ही आपके पास आया है। विजेता छल है और उस दुनिया के छल को दुनिया के लिये छोड़िये। पर आप तो जानते हैं।"

आचार्य—"हाँ, चेहरे पर आपके विजय नहीं, पराजय देखता हूँ। शिकायत क्या है?"

रिपु—"मैं खुद नहीं जानता। मुझे नींद नहीं आती। और मन पर मेरा काबू नहीं जमता।"

"हुँ—क्या होता है?"

"जो नहीं चाहता, मन के अन्दर वह सब कुछ हुआ करता है?"

"ख़ास तौर पर आप क्या नहीं चाहते?"

"क्या कहूँ? यही देखिये कि हिन्दुस्तान लौट आया हूँ, जब कि ध्रुव पर अभी बहुत काम बाकी है। विजेता शब्द व्यंग्य है। ध्रुव देश भी हम सब के लिये एक उद्यान होना चाहिये। एक अकेला झण्डा गाड़ आने से क्या होता है? वह सब काम बाकी है। फिर भी मैं हिन्दुस्तान आ गया। भला क्यों?"

मारुति गौर से रिपुदमन को देखते रहे। बोले—"तो हिन्दुस्तान न आना ज़रूरी था?"

"हाँ, आना किसी भी तरह ज़रूरी न था।"

"क्यों? हिन्दुस्तान तो घर है।"

"घर क्या मेरा? मेरा घर तो ध्रुव भी हो सकता है।"

आचार्य ने ध्यानपूर्वक रिपुदमन को देखते हुए कुछ हँसकर कहा—"यानी हिन्दुस्तान को छोड़कर कोई घर हो सकता है!"

राजा रिपु ने उत्साह से कहा—लेकिन क्यों कोई घर हो? और मेरे जैसे आदमी के लिए!"

आचार्य—खैर, अब हम काम की बातें करें अभी मैं कुछ नहीं कह सकता। कल पहली बैठक दीजिए—तीन बजकर बीस मिनिट पर। डायरी रखते हैं? नहीं, तो अब से कल तक की डायरी रखिये। साथ जो खर्च करें उसका पाई-पाई हिसाब और जिनसे मिलें उनका ब्यौरा भी रखियेगा।"

रिपु—"आपका क्या ख़्याल है? नरवस सिस्टम में कुछ ख़राबी है?"

"वह सब अभी न कह सकूँगा। मैं सोचता हूँ कोई ख़राबी नहीं है। मैं वैज्ञानिक से अधिक विश्वासी हूँ। विश्वास में बहुत शक्ति है। अब हम कल मिलेंगे।...जी नहीं, इसके लिये बाहर सेक्रेटरी है।"

बड़े-बड़े नोटों को वापस पर्स में रखते हुये राजा ने कहा—"मेरा स्वास्थ्य आप मुझे दे दें तो मैं बड़ा ऋणी होऊँ।"

आचार्य हँसकर बोले—"लेकिन आप तो स्वस्थ ही हैं। मै आत्मा को मानता और शरीर को जानता हूँ। शरीर आत्मा का यंत्र है। यंत्र आपका साबित है, निरोग है—सब अवयव ठीक हैं। कृपया कल सवेरे आप यहाँ के यंत्र-मन्दिर में भी हो आयें। सेक्रेटरी सब बता देंगे। वहाँ आपके हृदय, मस्तिष्क और शेष शरीर का पूरा निरीक्षण हो जायगा और परिणाम दोपहर तक मैं देख चुकूँगा। यह सब शास्त्रीय सावधानी है और उपयोगी भी है। लेकिन आप मान लें कि आपका शरीर एक दम तन्दुरस्त है।...कल डायरी लाइयेगा।"

अगले दिन रिपुदमन समय पर पहुँचे। आचार्य ने तरह-तरह के नक्शे और चित्र उनके आगे रखे और कहा—"देखिए, आपके यंत्र का पूरा खुलासा मौजूद है। मस्तक और हृदय सम्बन्धी परिणाम सही नहीं उतरे हैं तो विकार उन अवयवों में मत मानिए। व्यतिरेक यों है भी सूक्ष्म........डायरी है ?

रिपुदमन ने क्षमा माँगी, कहा—"मैं चित्त को उस जितना भी तो एकाग्र न कर सका।"

आचार्य हँसे; बोले—"कोई बात नहीं, अगली बार सही, यह कहिये कि आपके भाई महाराज साहब और रानी माता से मिलने आप जाइयेगा ? विजेता को जीतने के लिये मारके बहुत हैं, पर अपनों का मन जीतना भी छोटी बात नहीं है। मैंने कल फोन पर महाराज से बातें की थीं। जो आप करो उसमें उन्हें खुशी है। लेकिन अपने सुख से आप इतने विमुख न रहो—यह भी वह चाहते हैं। अच्छे से अच्छे सम्बन्ध मिल सकते हैं, या आप चुन लो। विवाह अनिष्ट वस्तु नहीं है। वह तो एक आश्रम का द्वार है। क्यों, यह चर्चा अरुचिकर है ?"

रिपुदमन ने कहा—"जी, मैं उसके अयोग्य हूँ। विवाह से व्यक्ति रुकता है। वह बँधता है। वह तब सब का नहीं हो सकता। अपना एक कोल्हू बनाकर उसमें जुता हुआ चक्कर में घूम ही सकता है। नहीं उस बारे में मुझे कुछ कहने को नहीं है।"

आचार्य हँस कर बोले—"विवाह चक्कर सही। लेकिन प्रेम—?"

रिपुदमन ने कुछ जवाब नहीं दिया।

"प्रेम से तो नाराज़ नहीं हो? विवाह का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। प्रेम के निमित्त से उसकी सृष्टि है। इससे विवाह की बात तो दुकानदारी की है। सचाई की बात प्रेम है। इस बारे में तुम अपने से बात कर के देखो। वह बात डायरी में दर्ज कीजियेगा। अब परसों मिलेंगे।

"परसों यदि न गया।"

"कहाँ न गये?"

"यही हिमालय या कहीं।"

"जहाँ चाहे जाओ। लेकिन मेरा दो बैठकों का कर्ज़ अभी बाकी है परसों वही तीन बीस पर आप आओगे। अब घड़ी हमें समय देना नहीं चाहती।"

"परसों के विषय में मैं आशावान से अधिक नहीं हूँ।"

"अच्छा तो कल उन से मिल कर आशा को विश्वास बना लीजये, जिनसे न मिलने के लिये मुझसे मिला जाता है। फोन पर मिलिये, वह न हो और दूरी हो तो हवाई यात्रा कीजिये। पर खटका छोड़ कर उनसे मिलिये अवश्य और कल! रेग्युलेटर जहाँ है उसके विपरीत मेरी सलाह जाकर बेकार ही हो सकती है।"

रिपुदमन ने चमक कर कहा—"किस की बात आप करते हैं।"

"नहीं जानता, वह कौन है। और जानूँगा तो आप ही से जानूँगा।...देखिये ध्रुव से और हिमालय से लड़ाई भी ठीक-ठीक

तभी आपकी चलेगी, जब अपनी लड़ाई एक हद तक सुलझ चुकेगी। प्रेम का इनकार अपने से इनकार है।...लेकिन घड़ी की आज्ञा का उल्लंघन हम अधिक नहीं करेंगे।"

"देखिये, परसों यदि आ सका।"

"आप आयेंगे।...नमस्कार।"

"नमस्कार।"

(३)

समय सब पर बह जाता है और अख़बार कल को पीछे छोड़ आज पर चलते हैं! राजा रिपु नयेपन से जल्दी छूट गये। ऐसे समय सिनेमा के एक बाक्स में उर्मिला से उन्होंने भेंट की। उर्मिला बच्चे को साथ लायी थी। राजा सिनेमा के द्वार पर उसे मिले और बच्चे को गोद में लेना चाहा। उर्मिला ने जैसे यह नहीं देखा और अपने कन्धे से उसे लगाये वह उनके साथ जीने पर चढ़ती चली आयी। बाक्स में आकर व्यस्ततापूर्वक उन्होंने बिजली का पंखा खोल दिया, पूछा—"कुछ मँगाऊँ?"

"नहीं।"

घण्टी दबा कर आदमी को बुलाया, कहा—"दो क्रीम।"

उसके जाने पर कहा—"लाओ मुझे दो न, क्या नाम है!"

उर्मिला ने मुस्करा कर कहा—"नाम अब तुम दो।"

"तो लो, आदित्यप्रसन्नबहादुर खूब है!"

"बड़े आदमी बड़ा नाम चाहते हैं। मैं तो मधु कहती हूँ।"

"तो वह भी ठीक है; माधवेन्द्रबहादुर खूब है!"

"तुम जानो। मुझे तो मधु काफ़ी है।"

इस तरह कुछ बातें हुईं और बीच ही में ज़रूरत हुई कि दोनों खेल से उठ जाएँ और कहीं जाकर आपस की सफ़ाई कर लें।

दूर जमना किनारे पहुँच कर राजा ने कहा—"अब कहो, मुझे क्या कहती हो?"

"कहती हूँ कि तुम क्यों अपना काम बीच में छोड़ कर आये?"

"मेरा काम क्या है?"

"मेरी और मेरे बच्चे की चिन्ता ज़रूर तुम्हारा काम नहीं है। मैंने कितनी बार तुम से कहा, तुम उससे ज्यादा के लिये हो।"

"उर्मिला, अब भी मुझसे नाराज़ हो?"

"नहीं, तुम पर गर्वित हूँ।"

"मैंने तुम्हारा घर छुड़ाया। सब में रुसवा किया। इज्जत ली। तुमको अकेला छोड़ दिया। उर्मिला, मुझे जो कहो थोड़ा। पर अब बताओ, मुझे क्या करने को कहती हो? मैं तुम्हारा हूँ। न रियासत का हूँ, न ध्रुव का हूँ। मैं बस, तुम्हारा हूँ। अब कहो।"

"देखो राजा, तुम भूलते हो। गिरिस्ती की-सी बात न करो। महाप्राणों की मर्यादा और है। तुम उन्हीं में हो। मेरे लिये क्या यह गौरव कम है कि मैं तुम्हारे पुत्र की माँ हूँ। मुझे दूसरी

सब बातों से क्या मतलब है ? लेकिन तुम्हें हक़ नहीं कि मुझसे घिरो। दुनिया को भी जानने की ज़रूरत नहीं कि मेरा बालक तुम्हारा है। मेरा जानना मेरे गर्व को काफ़ी है। मेरा अभिमान इसमें तीसरे को शरीक न करेगा। लेकिन मैं अपने को क्षमा नहीं कर सकूँगी, अगर जानूँगी कि मैं तुम्हारी गति में बाधा हूँ। अपने भीतर के वेग को शिथिल न करो, तीर की नाईं बढ़े चलो कि जब तक लक्ष्य पार हो। याद रखना कि पीछे एक है जो इसी के लिये जीती है।"

"उर्मिला, तुमने मुझे ध्रुव भेजा। कहती थी—उसके बाद मुझे दक्षिणी ध्रुव जीतने जाना होगा। क्या सच अब मुझे वहीं जाना होगा ?"

"राजा, कैसी बात करते हो। तुम कहीं रुक कैसे सकते हो ? जाना होगा नहीं, जाओगे ? अतुल वेग तुम में है, क्या वह यों ही ? नहीं, मैं देखूँगी कि कुछ उसके सामने नहीं टिक सकता। मैं तुम्हारी बनी तो क्या इतना नहीं कर सकती ? इस पुत्र को देखो। भवितव्य के प्रति यह तुम्हारा दान है। अब तुम उऋण हो, गति के लिये मुक्त हो। ध्रुव धरती के हो चुकेंगे तब कि आकाश के सामने होंगे। राजा तुमको रुकना नहीं है। पथ अनन्त हो, यही गति का आनन्द है।"

"उर्मिला, मैं आचार्य मारुति के गया था—"

"मारुति ! वह ढोंगी !"

"वह श्रद्धेय हैं उर्मिला।"

"जानती हूँ, वह स्त्री को चूल्हे के और आदमी को हल के लिये पैदा हुआ समझता है। वह महत्व का शत्रु और साधारणता का अनुचर है। उसने क्या कहा ?"

"तुम उन्हें जानती हो ?"

"माँ उनकी भक्त थीं। वह अकसर हमारे यहाँ आते थे। उन्हीं की सीख से माँ ने मुझे संस्कृत पढ़ायी और नई हवा से बचाया। तभी से जानती हूँ। वह तेजस्विता का अपहर्त्ता है। अब वहाँ न जाना। उसने कहा क्या था ?"

"कहा था, यह गति अगति है। जगह बदलना नहीं, सचेत होना गतिशीलता का लक्षण है। उसकी शायद राय है कि मुझे घूमना नहीं, विवाह करना चाहिए।

"मैं जानती थी। और तुम्हारी क्या राय है ?"

"वही जानने तुम्हारे पास आया हूँ। मारुति सब जानते हों, मुझको तुम जानती हो। इस लिये तुम्हीं कहो, मुझको क्या करना है।"

"विवाह नहीं करना है।"

"उर्मिला !"

"तुम्हारा शरीर स्वस्थ है और रक्त उष्ण है तो···।"

"उर्मिला !"

"तो स्त्रियों की कहीं कमी नहीं है।"

"बको मत, उर्मिला, तुम मुझे जानती हो।"

"जानती हूँ राजा, इसी से कहती हूँ। तुम्हारे लिये क्या मैं

स्त्री हूँ ? नहीं, प्रेमिका हूँ । मैं इस बारे में कभी भूल नहीं करूँगी । इसीलिये किसी स्त्री के प्रति तुममें मैं निषेध नहीं चाह सकती । मुझमें तुम्हारे लिये प्रेम है, इससे सिद्धि के अन्त तक तुम्हें पहुँचाये बिना मैं कैसे रह सकती हूँ ।"

"उर्मिला, सिद्धि मृत्यु से पहले कहाँ है ?"

"वह मृत्यु के भी पार है राजा ! इससे मुझ तक लौटने की आशा लेकर तुम नहीं जाओगे । सौभाग्य का क्षण मेरे लिये शाश्वत है । उसका पुनरावर्त्तन कैसा ?"

"उर्मिला तो मुझे जाना ही होगा । तुम्हारा प्रेम दया नहीं जानेगा ?"

"यह क्या कहते हो राजा ! मैं तुम्हें पाने के लिये भेजती हूँ, और तुम मुझे पाने के लिये जाते हो । यही तो मिलने की राह है । तुम भूलते क्यों हो ?"

"उर्मिला, आचार्य मारुति ने कहा था—साधारण रहो, सरल रहो । हम दोनों कहीं अपने साथ छल तो नहीं कर रहे हैं ?"

"नहीं राजा, मारुति नहीं जानता । वह समझ की बात समझ से जो परे है, उस तक प्रेम ही पहुँच सकता है । जाओ राजा, जाओ । मुझ को परिपूर्ण करो, स्वयं भी सम्पूर्ण होओ ।"

"देखो उर्मिला, तुम भी रो रही हो ।"

"हाँ, स्त्री रो रही है, प्रेमिका प्रसन्न है । स्त्री की मत सुनना, मैं भी पुरुष की नहीं सुनूँगी । दोनों जने प्रेम की ही सुनेंगे । प्रेम जो अपने सिवा किसी दया को, किसी कुछ को नहीं जानता ।'

(४)

पौने चार बजे राजा रिपु आचार्य के यहाँ पहुँचे। डायरी दी। आचार्य ने उसे ग़ौर से देखा। अनन्तर नोटबुक अलग रखी। कुछ देर विचार में डूबे रहे। अनन्तर सहसा उबर कर बोले, "क्षमा कीजियेगा। मैं कुछ याद करता रह गया। आपने डायरी में संक्षिप्त लिखा। उर्मिला माता है और कुमारी है—यही न?"

"जी।"

"तुम्हारे पुत्र की अवस्था क्या है?"

"वर्ष से कुछ अधिक।"

"उत्तरी ध्रुव जाने में उर्मिला की सम्मति थी?"

"प्रेरणा थी।"

"यह विचार उसने कहाँ से पाया?"

"शायद मुझसे ही।"

"आरम्भ से तुम विवाह को उद्यत थे, वह नहीं?"

"जी नहीं। मैं बचता था, वह उद्यत थी।"

"हुँह! बचते थे, अपनी स्थिति और माता-पिता के कारण?"

"कुछ अपने स्वप्नों के कारण भी।"

"हुँह,...फिर?"

"गर्भ के बाद मैं तैयार हुआ कि हम साथ रहें।"

"विवाहपूर्वक?"

"जी, वह चाहे तो विवाहपूर्वक भी।"

"हुँह,...फिर?"

"तब उसका आग्रह हुआ कि मुझे ध्रुव के लिये जाना होगा।"

"तो उस आग्रह की रक्षा में आप गये?"

"पूरी तरह नहीं। मन से मैं भी साथ रहने का बहुत इच्छुक न था। इससे निकल जाना चाहता था।"

"तुम्हारे आने से तो वह प्रसन्न हुई?"

"शायद हुई। लेकिन रुकने से अप्रसन्न है।"

"क्या कहती है?"

"कहती है कि जाओ। जय-यात्रा की कहीं समाप्ति नहीं। सिद्धि तक जाओ, जो मृत्यु के पार है।"

अकस्मात् आवेश में आकर आचार्य बोले—"कौन, उर्मिला? वही धनञ्जयजी की लड़की? वह यह कहती है?"

"जी!"

"वह पागल है।"

"यही वह आपके बारे में कहती है।"

आचार्य ज़ोर से बोले—"चुप रहो, तुम जानते नहीं। वह मेरी बेटी है।"

"बेटी!"

"मैं बुड्ढा हूँ, रिपु, तुम समझदार हो। हाँ, सगी बेटी।"

"आचार्य जी, यह आप क्या कह रहे हैं? तो आप सब जानते थे?"

"सब नहीं तो, बहुत कुछ जानता ही था। देखो रिपुदमन,

अब बताओ तुम क्या कहते हो ?"

"मैं कुछ नहीं जानता, कुछ नहीं कहता। मेरे लिये सब ऊर्मि से पूछिये।"

"सुनो रिपुदमन, तुम अच्छे लड़के हो। ऊर्मि मुझसे बाहर न होगी। पुत्र की व्यवस्था हो जायगी और तुम लोग विवाह करके यहीं रहोगे।"

रिपुदमन ने हाथों से मुँह ढक कर कहा—"मैं कुछ नहीं जानता। ऊर्मि कहे, वही मेरी होनहार है।"

"ऊर्मि तो मेरी ही बेटी है, रिपुदमन, निराश न हो।"

(५)

आचार्य के समक्ष पहुँच कर उर्मिला ने कहा—"आपने मुझे बुलाया था ?"

"हाँ बेटी, रिपुदमन ने सब मुझ से कहा है। जो हुआ; हुआ। अब तुम्हें विवाह कर लेना चाहिये।"

"अब से मतलब कि पहले नहीं करना चाहिये था ?"

"विवाह हुआ है; तब तो खुशी की बात है। फिर वह प्रकट क्यों न हो ? तुम दोनों साथ रहो।"

"भगवान् पर तो सब प्रकट है। और साथ बहुतेरे लोग रहते हैं ?"

"तो तुम क्या चाहती हो ?"

"वही जो राजा रिपुदमन उस अवस्था में चाहते थे, जब मुझे मिले थे। उनके स्वप्न मेरे कारण भग्न होने चाहिये कि पूर्ण? मेरी चिन्ता उन्हें उनके प्रकृत मार्ग से हटाए, यह मैं कैसे सह सकती हूँ?"

"स्वप्न तो सत्य नहीं है, बेटी! तब की मन की बहक को उसके लिये सदा क्यों अङ्कुश बनाये रखना चाहती हो? एक भूल के लिए किसी से इतना चिढ़ना न चाहिए।"

"आचार्यजी, आप किस अधिकार से मुझ से यह कह रहे हैं?"

"रिपु ने जो अपनी हैसियत और माता-पिता के ख़याल से आरम्भ में विवाह में झिझक की, इसी का न यह बदला है?"

"आचार्यजी, आप इन बातों को नहीं समझेंगे। शास्त्र में से स्त्री को आप नहीं जान लेंगे।

"बेटी, फिर कोई किस में से किसको जानेगा, बता तो?"

"सब कुछ प्रेम में से जाना जायगा; जो कि मेरे लिये आपके पास नहीं है।"

"सच बेटी, मेरे पास वह नहीं है। और तेरे लिये जितना चाहूँ उतना है, यह मैं किसी तरह न कह सकूँगा। लेकिन तुम से जो सचाई छिपाता रहा हूँ और अब छिपा रहा हूँ, वह अनर्थ अपने लिये नहीं, तेरे प्रेम के लिये ही मुझ से बन सका है, यह भी झूठ नहीं है। बेटी, मैं काफ़ी जी लिया। अब मरने में देर लगाने की बिलकुल इच्छा नहीं है। ऐसे समय तेरे अहित

की बात कह सकूँगा, ऐसा निठुर मुझे न मानना। रिपुदमन को भरमा मत, उर्मिला! किसी का सपना होने के लिये वह नहीं है। तुम लोग विवाह करो और राज-मार्ग पर चल पड़ो।"

उर्मिला ने हँस कर कहा—"आप थक गये हैं, आचार्य जी! भीड़ चलती रही है, इसी कारण जो प्रशस्त और स्वीकृत हो गया है वही न आपका राज-मार्ग? पर मुक्ति का पथ अकेले का है। अकेले ही उस पर चला जायेगा। वहाँ पाण्डव तक पाँच नहीं हैं। सब एक-एक हैं।"

"बेटी, यह क्या कहती है? सनातन ने जिसको प्रतिष्ठा दी है, बुद्धि के अहङ्कार में उसका तर्जन श्रेयस्कर नहीं होनेवाला है। उर्मिला, यह एक बूढ़े की बात सुन रक्खो। पर बेटी, उसे छोड़ो। बताओ, मुझे माफ़ कर सकोगी!"

"आप रिपुदमन को, अपनी समझ से, उसके हित की ओर मोड़ना चाहते हैं, उसके लिये आप को क्षमा माँगने की ज़रूरत नहीं है।"

"तो तुम रिपु से नाराज़ ही रहोगी? उसके साथ अपने को भी दण्ड ही देती रहोगी?"

मुझे पाने के लिये उन्हें जाना होगा; उन्हें पाने के लिये मुझे भेजना होगा—यह आपको कैसे समझाऊँ?"

"हाँ, मैं नहीं समझ सकूँगा। लेकिन मेरा एक और दावा है। सोचता था, भगवान् के आगे पहुँचूँगा, उससे पहले उस बात को कहने का मौका नहीं...! क्यों, तू अपने पिता की भी बात नहीं मानेगी?",

"पिता को जीते जी इस सम्बन्ध में, मैं कब सन्तोष दे सकी ?"

"बेटी, अब भी नहीं दे सकेगी ?"

उर्मिला ने चौंक कर कहा—"क्या आचार्य जी ?"

मारुति का कंठ भर आया; काँपते हुये बोले—"हाँ, बेटी ! चाहे तो अब तू अपने बाप को सन्तोष और क्षमा दोनों दे सकती है।"

ऊर्मि स्तब्ध, आचार्य को देखती रही। उनकी आँखों से तार-तार आँसू बह रहे थे ! उनको दशा दयनीय थी। बोली—"मुझ अभागिन के भाग्य में आज्ञा-पालन तक का सुख, हाय, विधाता क्यों नहीं लिख सका ? जाती हूँ, इस हतभागिन को भूल जाइयेगा।"

(६)

रिपुदमन ने कहा—"आचार्य से तुम मिली थीं ?"

"मिली थी"।

"अब मुझे क्या करना है ?"

"करना क्या है राजा; तुम्हें जाना है, मुझे भेजना है।"

"कहाँ जाना है—दक्षिणी ध्रुव !"

"हाँ, नहीं तो उत्तर के बाद कहीं तुम दक्षिण के लिए शेष न रहो।"

"दक्षिण के बाद फिर किसी के लिये शेष बचने की बात

नहीं रह जायगी न ?"

"दिशाओं के द्वारा दिगंत में हम खो जायँ। शेष यहाँ किस को रहना है ?"

"छोड़ो, मैं तुम्हें नहीं समझता, तुम्हारी संस्कृत नहीं समझता। सीधे बताओ, मुझे कब जाना है ?"

"जब हवाई जहाज़ मिल जाय।"

"तो लो, तुम्हारे सामने फ़ोन से तय किये लेता हूँ।"

फ़ोन पर भी बात करते समय टकटकी बाँध कर उर्मिला रिपु को देखती रही। अनंतर पूछा—"तो परसों शटलैण्ड द्वीप के लिये पूरा जहाज़ हो गया ?"

" हाँ, हो गया।"

"लेकिन परसों कैसे जाओगे, दल जुटाना नहीं है ?"

"तुम्हारा मन रक्खूँगा ! दल के लिये नहीं ठहरूँगा।"

"लेकिन उसके बिना क्या होगा ? नहीं, परसों तुम नहीं जाओगे।"

"और न सताओ उर्मिला, जाऊँगा। अमरीका फ़ोन किये देता हूँ। दक्षिण से कुछेक साथी हो जायँगे।"

"नहीं राजा, परसों नहीं जाओगे।"

"मैं स्त्री की बात नहीं सुनूँगा। मुझे प्रेमिका के मन्त्र का वरदान है।"

आँखों में आँसू लाकर उर्मिला ने रिपु के दोनों हाथ पकड़ कर कहा—"परसों नहीं जाओगे तो कुछ हरज है ? यह तो बहुत

जल्दी है ?"

रिपु हाथ झटक कर खड़ा हो गया, बोला—"मेरे लिये रुकना नहीं है। परसों तक इसी प्रायश्चित्त में रहना है कि तब तक क्यों रुक रहा हूँ।"

उर्मिला के फैले हुए हाथ खाली रहे! और वह कहती रह रही—"राजा, ओ मेरे राजा!"

(७)

दुनिया के अख़बारों में धूम मच गयी। लोगों की उत्कण्ठा का ठिकाना न था। योरुप, अमरीका, रूस आदि देशों के टेलीफ़ोन जैसे इसी काम के हो गये। ध्रुव-यात्रा-योजना की बारीकियाँ पाने के बारे में सम्वाददाताओं में होड़ मच उठी। रिपुदमन उन्हें कुछ न बता सका, यह उसकी दक्षता का प्रमाण बना। हवाई जहाज़ जो शटलैंड के लिये चार्टर हुआ था, उसकी भिन्न-भिन्न कोनों से ली गई असंख्य तस्वीरें छपीं।

उर्मिला अख़बार लेती, पढ़ती और रख देती। अनन्तर शून्य में देखती रह जाती। नहीं तो अपने बच्चे में डूबती।

एक दिन, दो दिन। वह कहीं बाहर नहीं गई। टेलीफ़ोन पास रख छोड़ा। पर कोई नहीं, कुछ नहीं। अख़बार के पन्नों से आगे और कोई बात उस तक नहीं आई।

आज अन्तिम सन्ध्या है। राष्ट्रपति की ओर से दिया गया

भोज हो रहा होगा। सब राष्ट्र-दूत होंगे, सब नायक, सब दलपति। गयी रात तक वह इन कल्पनाओं में रही।

तीसरा दिन। उर्मिला ने अख़बार उठाया। सुर्खी है और बॉक्स में ख़बर है। राजा रिपुदमन सबेरे खून में भरे पाये गये। गोली का कनपटी के आरपार निशान है।

ख़बर छोटी थी, जल्दी पढ़ ली गयी। लेकिन पूरे अख़बार में विवरण और विस्तार के साथ दूसरी सूचनाएँ थीं, जिन्हें उर्मिला पढ़ती ही चली गई, पढ़ती ही चली गई। पिछली सन्ध्या को जगह-जगह राजा रिपुदमन के सम्मान में सभाएँ हुई थीं। उनका चर्चा था। ख़ास कर राष्ट्रपति के उस भोज का पूरा विवरण था, जिसे दुनिया का एक महत्वपूर्ण समारोह कहा गया था।

उर्मिला रस की एक बूँद नहीं छोड़ सकी। उसने अक्षर-अक्षर सब पढ़ा।

दोपहर बीत गई, तब नौकरानी ने चेताया कि खाना तैयार है। इस समय उसने भी तत्परता से कहा—मैं भी तैयार हूँ। यहीं ले आओ। प्लेट्स इसी अख़बार पर रख दो।

परिशिष्ट

उसी दिन अख़बारों ने अपने ख़ास अङ्क में मृत व्यक्ति का तकिये के नीचे से मिला जो पत्र छापा था, वह भी नीचे जाता है।

सब के प्रति—

"बन्धुओ,

मैं दक्षिणी ध्रुव जा रहा था, सब तैयारियाँ थीं। ध्रुव में मुझे

महत्व नहीं है। फिर भी मैं जाना चाहता था। कारण, इस बार मुझे वापस आना नहीं था। ध्रुव के एकान्त में मृत्यु सुखकर होती। ध्रुव-यात्रा मेरी व्यक्तिगत बात थी, उसी को सार्वजनिक महत्व दिया गया। यह अन्याय है। इसी शाम राष्ट्रपति और राष्ट्रदूतों ने मुझे बधाइयाँ दीं। मेरे पराक्रम को सराहा, पर उन्हें छल हुआ है। मैं वह श्रेय नहीं ले सकता। वह चोरी होगी। उस भ्रम में लोगों को रखना मेरे लिये गुनाह है। क्या अच्छा होता कि ध्रुव मैं जा सकता, लेकिन लोगों ने सार्वजनिक रूप से जो श्रेय मुझ पर डाला, उसका स्वल्पांश भी किसी तरह अपने साथ लेकर मैं नहीं बढ़ सकता हूँ। यात्रा एकदम निजी कारणों से थी। मुझे बहुत खेद है कि मैं किसी से मिले आदेश और उसे दिये अपने वचन को पूरा नहीं कर पा रहा हूँ। लेकिन ध्रुव पर भी मुझे बचना था नहीं। इसलिये बचना अब भी नहीं है। मुझे संतोष है कि किसी की परिपूर्णता में मैं काम आ रहा हूँ। मैं पूरे होश-हवास में अपना काम तमाम कर रहा हूँ। भगवान् मेरे प्रिय के अर्थ मेरी आत्मा की रक्षा करें।"

जय-संधि

सामन्त यशोविजय अपने दृढ़ भुजबल और दृढ़तर आत्म-विश्वास से काम लेकर मंडलेश्वर बन गये। किंतु उन्हें प्रतीत हुआ कि उनपर इससे आगे भी दायित्व है। आसपास राज्यों में स्पर्धा है; विग्रह है, ईर्ष्या है। छुटपुट युद्ध होते ही रहते हैं। अन्तर-राजकीय कोई अनुशासन नहीं। सब मनमानी करते हैं और ज़बर्दस्त कमज़ोर पर चढ़ बैठता है।

यशोविजय को स्पष्ट कर्त्तव्य दीखने लगा कि ऐसी केन्द्रीय शक्ति को उदय में लाना और प्रतिष्ठित करना होगा, जो इन सब राजाओं के दर्प को भंग करे और उन में एकसूत्रता लाये। केन्द्रीय सत्ता के स्थापन करने के काम के लिये अब कौन आगे आयगा? सीधी नीति और धर्म की बातों से ये राजा लोग माननेवाले नहीं हैं। शास्त्र का तर्क ही वे जानते हैं। मैंने आरम्भ में कहा कि अपने महाराष्ट्र में हमें अखंडता लानी है, अच्छा है कि हम सब छत्रधारी आपस में मिलकर उपाय सोचें। पर क्या किसी ने

सुना ? मैं ने पुस्तक लिखी, प्रचार किया, पार्टी बनाई । अन्त तक उन की कोशिश रही कि न मुझे गिनें; न मेरी सुनें । आख़िर शास्त्र की ही दलील उनके कानों उतरी और मुझे राजा बनना पड़ा । अब भी शक्ति की ही ये सुनेंगे; और मुझे ही वह काम करना होगा ।

यशोविजय की निष्पुत्रा पत्नी वसन्ततिलका ने कहा—"सुनो जी, तुम क्या जयवीर पर चढ़ाई करने की सोच रहे हो ? तुम्हें अब क्या कमी है ? फिर किस लिये उत्पात ?"

यशोविजय ने कहा, "बसन्त, यह न समझो कि मैं तुम्हें नहीं देखता हूँ । रूप के लिये मेरे पास आँखें हैं । पर इतिहास हम से ही न बनेगा तो वह और किस को लेकर बनेगा ? बसन्त, पति और पिता बन कर रहने वाले तो असंख्य हैं; कोई इतिहास का बन कर रहने को भी तैयार होगा ? बसन्त, ऐसे आदमी को युद्ध से विरत करोगी तो फिर उस के लिये रह क्या जायगा ? संघर्ष में से विकास आता है । अपने इस महाराष्ट्र को एक संगठित पूंजीभूत शक्ति के रूप में विश्व के समक्ष हमें खड़ा करना है । इस में अनेकों को और उनकी अनेकता को बीच में टूट कर गिरना हो, तो क्या तुम बीच में आकर मुझे उन पर दया दिलाओगी ? यशोविजय को तुम ग़लत समझी हो, बसन्त, अगर तुम ऐसा समझती हो ।"

बसन्ततिलका ने कहा, "लेकिन जयवीर और यशस्तिलका की सहायता से ही आज तुम राजा हो, यह क्या तुम्हें याद नहीं है ?"

यशोविजय—भाग्य में सब काम आते हैं, बसन्त, लेकिन भाग्य पर किसी स्मृति का बोझ नहीं होता है। भाग्य असंपृक्त है। और वह अमोघ भी है। मैं जयवीर के साथ अपने नाते की ओर देखूँ कि यह देखूँ कि वह हमारे राष्ट्र की एकता में बाधा है। वही एक व्यक्ति है जो महाराष्ट्र-संघ में नहीं आना चाहता और जिसके कारण कुछ और लोग भी छिटके हुए हैं।

बसन्त बोली, "लेकिन बहिन यशस्तिलका।"

यशोविजय सुन कर मुस्कराये। कहा, "उस की अवस्था बीती नहीं है। फिर विवाह हो सकता है।"

बसन्त (चौंक कर)—तुम उसे विधवा करोगे ?

यशोविजय—(भृकुटी वक्र कर) मैं कुछ नहीं करूँगा। पर जो होगा मैं वह क्या जानता हूँ ? तुम स्त्रियों की विवाह से आगे गति नहीं। यशस्तिलका, तुम जानती हो कि वह क्या चाहती है ? पति को कोई स्त्री नहीं चाहती।

बसन्त (व्यंग से)—न स्त्री को कोई पुरुष चाहता है, क्यों ?

यशोविजय—पुरुष का यह काम नहीं है। स्त्री पीछे चली आने को है। चाह का खर्च स्त्री पर कापुरुष ही करते हैं।

बसन्त—मैं समझी, तुम यशस्तिलका को विधवा बनाओगे। कहो, अपना बदला लोगे ! यही न ?

यशोविजय—हाँ-शायद। लेकिन उसके प्रेम के कारण यशस्तिलका ने जयवीर को नहीं वरा है, मेरे प्रेम के कारण उस ने ऐसा किया है। मुझ पर कर्त्तव्य है कि मैं उसके प्रेम को मुक्ति दूँ।

बसन्त—और ऐसे मुझ को भी मुक्ति दो !—क्यों ?

यशोविजय—बसंत,तुम भूलती हो, मैं इन चीज़ों के लिये नहीं बना हूँ। यशस्तिलका मुझे चाह सकी, पर स्वीकार नहीं कर सकी। वह समाज जहाँ व्यक्ति का कुल इतना प्रधान है कि उस के प्रेम को व्यर्थ करता है, वह समाज जीर्ण है। यशस्तिलका के विवाह के क्षण से मैं ने यह देख लिया। तब से तय किया कि समाज की ऊँच-नीचता को एक बार चीर कर मुझे राजा बनना होगा। जाति और कुल की बेड़ियों की जकड़ को खंड-खंड कर डालना होगा। उसी क्षण तय किया कि यशस्तिलका की बहिन-तुम से मुझे विवाह करना होगा। चौंको नहीं; यह नहीं कि तुम अपूर्व सुंदरी नहीं हो। पर विवाह से मैं ने यह बतलाना चाहा कि समाज की मान-मर्यादायें झूठ हैं; कृत्रिम हैं। मैं अकेला हूँ। विवाह न मुझ यशस्तिलका से चाहिये था; न तुम्हारे विवाह का मेरे निकट उपयोग है। पर समाज की विषमताओं को बीच में से टूटना होगा। हमने क्या यह जंजाल फैला रखा है ? इसी को ले कर बड़े उड़ते और छोटे गिरते जा रहे हैं। वे ऐश करते हैं, ये तरसते हैं। मेरे पास जीने के लिये काफ़ी काम है। समाज के स्तरों को बीच से चीरते हुए मुझे वहाँ उठते जाना है, जहाँ कोई स्तर शेष नहीं है। तब लोग देखेंगे कि जिसको अनादि और अटूट माना था, वह वर्ग-भेद बिखरा पड़ा है। वह सब प्रपंच था और मनुष्य उस के पार है। बसन्त, तुम चाहती हो कि जयवीर का उपकार मानूँ और मैं अपने काम में यहीं रुक जाऊँ ? चाहती हो कि मैं

मैं न रहूं ?

बसन्त—नहीं, जयवीर पर चढ़ाई न करो।

यशोविजय—कौन जयवीर ? जयवीर को मै क्या जानता हूँ ? मैं उस आदमी को बर्दाश्त नहीं कर सकता जो इस महाद्वीप की एकता में विच्छेद डालता है। उसका नाम जयवीर है; तो इसमें मेरा दोष नहीं। तुम अपनी बहन से कहो कि तुम्हारे बहनोई को साथ लेकर सदा के लिये तुम्हारे साथ आ रहे। तब देखोगी कि उनके सत्कार में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होती है। पर राज-कारण बहिन-बहनोई को नहीं जानता।

बसन्ततिलका ने कहा—पर जयवीर कम शक्तिवान तो नहीं है। युद्ध में भीषण रक्तपात होगा। जय क्या निश्चित है? फिर जयवीर को मैं नहीं खो सकती तो तुम्हें ही खोने को मैं कब तैयार हूँ?"

यशोविजय सुनकर हँस आये, बोले—"मैं तुम्हारे किस काम का सिद्ध हुआ हूँ कि मुझे रखने का तुम्हें लोभ होना चाहिये?"

बसन्ततिलका ने ज़ोर से रोक कर कहा—"बस चुप करो।"

यशोविजय ने गम्भीर होकर कहा—"लेकिन मैं नहीं खोया जाऊँगा, बसन्त। जो काम मुझ में रख कर यहाँ मुझे भेजा गया है, वह हो न जायेगा, तब तक भगवान मुझे भला कैसे उठा सकेंगे।"

बसन्त—तो तुम चढ़ाई ही करोगे ? और उपाय नहीं है ?

यशोविजय—नहीं, मैंने दूत भेजे हैं। चाहो तो उसी हैसियत से तुम हो आओ। मैं युद्ध नहीं चाहता; बचना चाहता हूँ। पर सब जयवीर के हाथ है। महाराष्ट्र-संघ में अपना उचित प्रतिनिधित्व

लेकर जयवीर सन्तुष्ट नहीं हो सके तो फिर मेरा अपराध क्या ? हमारी यह भूमि कब तक फूट का आँगन बनी रहेगी। आख़िर कभी तो विधान आयेगा ? विधान का मसविदा जयवीर को भेज दिया गया है। तीस में से इक्कीस राजाओं ने उसको मान लिया है। शेष बस यह है कि सब मिल-बैठ कर अपना अधिनायक चुन लें। यह किया, कराया काम इसलिये चौपट होने दिया जाय कि जयवीर राज़ी नहीं है और वह नातेदार है ? जाओ, जाकर उसे कहो कि इक्कीस राज्यों की ओर से यशोविजय इस दिशा में कदम बढ़ाकर अब पीछे हटनेवाला नहीं है। कहना पन्द्रह रोज़ का और अवकाश है। मैं व्यक्ति नहीं हूँ; स्वतन्त्र नहीं हूँ। मैं प्रतिनिध हूँ और विधानाधीन हूँ। समय रहते सब हो जाना चाहिये। नहीं तो कहना कि भाग्य दुर्निवार ही है।

बसन्त—"हाँ, मैं जयवीर के पास जाऊँगी। लेकिन——"

यशोविजय—"अवकाश के पन्द्रह दिन से अधिक नहीं हैं।"

बसन्त—लेकिन मैं वापिस न आऊँ तो ?

यशोविजय—(भृकुटी समेट कर) अवकाश पन्द्रह दिन का है। आगे तुम जानो।

बसन्त—तुम्हें निश्चय है कि ईश्वर तुम्हारी ओर है ?

यशोविजय—ईश्वर किसी की ओर नहीं होता, बसन्त ! निस्स्वार्थ की ओर होता है। मैं निश्शंक हूँ।

बसन्त—तुम राज्य बना रहे हो; राज्य को अब साम्राज्य बना रहे हो। पर किसके लिये ? तुम्हारे तो कोई पुत्र भी नहीं है ?

यशोविजय—ठीक कहती हो, बसन्त। राज्य या साम्राज्य बना रहा होता तो कोई उसके लिये होना चाहिये था। पर कोई नहीं है। तुम जानती हो कि तुम तक नहीं हो। तब यही न है कि मुझे न राज्य बनाना है; न साम्राज्य बनाना है। मुझे यहाँ आकर भगवदादेश पालना है।

आँखों में आँसू लाकर बसन्ततिलका ने कहा—"तुम्हें किसी का भय नहीं है, स्वामी ?"

यशोविजय ने आश्चर्य से पूछा—"भय किसका ?"

बसन्त बोली—"पराजय का, मृत्यु का, भाग्य का, ईश्वर का? —किसी का भय नहीं है ?"

यशोविजय ने हँसकर कहा—"जाओ बसन्त, जयवीर के के पास जाओ। कहना मुझे भय नहीं है। इससे लज्जा और लिहाज भी नहीं है।"

बसन्त ने कहा—"एक बात मेरी सुनोगे ? तुम निस्पृह हो, इससे कह रही हूँ। जयवीर में उतनी क्षमता नहीं है। तुम उसकी अधीनता स्वीकार कर लो तो क्या हर्ज है ? तुम समर्थ हो।"

यशोविजय—कोई हानि नहीं, बसन्त। पर जयवीर में इतना भी तो साहस नहीं कि यही बात खुलकर कह सके। यह तो मैं सोचता ही था कि उसको केन्द्र बनाकर सबको एक विधान की अधीनता में गूँथ लूँगा। पर अधिनायक केवल नाम का हो तो उस से कूट चक्र की सृष्टि होगी ? तब वहाँ सड़ाँध हो जायगी। मेरी यही तो कठिनाई है, बसन्त। जयवीर न मुझे मानेगा,

न मुझे अपनी अधीनता में लेगा। मैं सत्ता नहीं चाहता। पर एकता तो चाहता हूँ। मुझे कोई दूसरा आदमी नहीं दीखता। सब अपने अपने चक्र में, अपने अपने राज-हित की भाषा में सोचते हैं। महाराष्ट्र उनके बल पर कैसे बनेगा, तुम्हीं सोचो। मुझे क्षमा करना। तुम्हारी कविताओं की स्तुति मैंने मुँह से नहीं; हृदय से की थी। हत्या नहीं, मुझे प्रेम ही प्रिय है। पर प्रेम तो दुःख है। दुःख में से सृष्टि होती है, बसन्त। एक समूचे महाराष्ट्र को जन्म लेना है। उसकी पीड़ा कम नहीं होगी। पर उसको सह जाना होगा। जयवीर और मैं काफ़ी साथ रहे हैं। महाराष्ट्र की एकता में निष्ठा उसे दुर्लभ है। मैं बताओ तब क्या करूँ? अधिक नहीं इतना तो वह करे कि नवसर्जन के इस संक्रान्ति काल में वह चुप ही बैठे। मेरे व्रत में बाधा तो न बने। बसंत, तुम मानती हो कि राजा होकर यशोविजय कुछ और हो रहा है? इनकार न करो। तुम्हारे चेहरे पर यह लिखा है। पर यह बात नहीं है। मैं वही हूँ। जिसने तुम्हारा चित्त जीता और जिसको तुमने अपने हृदय का समस्त काव्य दिया। लेकिन, बसन्त समय विषम है। और मैं भी स्वाधीन नहीं हूँ। जाने भाग्य की किस शृंखला से बँधा हुआ हूँ। आवर्तों में से मेरी गति है। और जीत कर भी किसी का हृदय लेने की मुझे स्वतंत्रता नहीं है। ऐसे व्यक्ति को दोष दे सकती हो, लेकिन क्या उस पर दया भी नहीं कर सकती हो, बसन्त? यशस्तिलका!—मैंने झूठ नहीं कहा, बसंत, कि जयवीर के न रहने पर उसे लौकिक क्षति कितनी भी हो; अभ्यंतर में दोनों अपरिचित हैं। लेकिन तुम्हारे द्वेष की भी वह बात नहीं है।

बसन्त—सच बताओ, क्या यह सच है कि यशस्तिलका अपने पति को युद्ध के लिये उभार रही है ?

यशोविजय—सुनता तो यही हूँ। पर जासूस मन तक तो नहीं पहुँच सकते।

बसन्त—तब क्या बहिन यही न समझेगी कि मैं तुम्हारे पक्ष में जयवीर को झुकाने आयी हूँ ?

यशोविजय—मेरे पक्ष में ? भविष्य के पक्ष में कहो, बसन्त, तो इस में अन्यथा क्या है ?

बसन्त—बहिन क्या चाहती है ? हम में से किसी का घर बर्बाद देखना चाहती है ?

यशोविजय—(गंभीर भाव से) हाँ, शायद अपना ही घर बर्बाद देखना चाहती है।

× × ×

बसन्ततिलका अपने पति की गंभीरता देखकर घबरा गयी। उसने निश्चय किया कि युद्ध को टालना होगा। वह जयवीर के पास गयी। कहा—"मैं सन्धि का प्रस्ताव लेकर आयी हूँ। तुम दोनों मिल जाओ तो क्या अजेय न हो जाओ ? आख़िर रक्तपात क्यों ?"

जयवीर—बसन्त, यशोविजय अपने को बहुत गिनता है। मैं क्या कर सकता हूँ ? कायर तो नहीं बन सकता !

बसन्त—पर मित्र तो बन सकते हो। मैं उसकी भीख माँगने आयी हूँ।

जयवीर—क्या वह मित्र चाहता है ? वह तो मातहत चाहता

है। नया राजा बना है न, प्यादे से फ़रज़ी हुआ है तो टेढ़ा क्यों नहीं चलेगा ?

बसन्त—"जयवीर, यह कहना तुम्हारे योग्य नहीं है। अपने बल से उन्होंने राज्य बनाया है? मिले से बनाया राज बढ़कर है। अपने मन में से उनके लिये दुर्भाव निकाल दो, जयवीर। मैं कहती हूँ; तुम लोग मित्र हो जाओ।"

जयवीर ने हँसकर कहा,—"उसके दूत यहाँ आये बैठे हैं। सिर पर तलवार लटका कर यशोविजय संधि के लिये कहलाता है। यह क्या मित्रता की माँग है ? —यह तो हुक्म है, जो आधीनों को दिया जाता है। मैं तो चाहता था कि हम में मेल रहे। क्या मैंने उसे सहायता नहीं दी ? लेकिन राज पाकर उसे मद हो गया है।"

बसन्त ने आग्रह से कहा—" मद नहीं, जयवीर ! उनको ग़लत न समझो। उन्हें तुम से द्वेष नहीं है। उन्होंने मुझे इसीलिये भेजा है। एक बात तुम मान लो कि तुम महाराष्ट्र-संघ में हो जाओगे। आगे उन्हें कुछ नहीं चाहिये। संघ में अपना प्रतिनिधित्व तुम बढ़वा सकते हो।"

जयवीर उत्तर में कुछ कहे कि यशस्तिलका वहाँ आ पहुँची। आते ही बोली—"महाराष्ट्र-संघ ! वह यशोविजय का ढकोसला है। यह उस में शामिल होंगे तो मैं इनके साथ न रहूँगी। वह उद्दण्ड, अपने चक्र में सब को फाँसना चाहता है।"

बसन्त—बहिन क्या कह रही हो !

जयवीर—"संघ का विचार बुरा नहीं है। पर यशोविजय

पर विश्वास के लिये प्रमाण चाहिये।"

बसन्ततिलका ने कहा—"प्रमाण में आप क्या चाहते हैं?"

जयवीर ने कहा, "यह राजनीति का प्रश्न है, बसन्त! इस बारे में मैं तुमसे किस अधिकार से बात करूँ? क्या यशोविजय मैं कहूँ वैसे चलेगा?"

बसन्त—वह संघ चाहते हैं; संघ को शक्तिमान चाहते हैं। इसके अतिरिक्त वह कुछ भी मान सकते हैं। मैं मना सकती हूँ। मुझे बताओ—कैसे तुम्हें विश्वास हो सकता है और तुम संघ में आ सकते हो।

जयवीर—तो सुनो बसन्त। संघ में यशोविजय न जाय, न अधिनायक पद के लिये खड़ा हो।

इस समय यशस्तिलका जो चुप थी, हठात् बोल उठी—"यह कैसे हो सकता है? यशोविजय के बिना संघ व्यर्थ है और अधिनायक बने बिना यशोविजय व्यर्थ है। क्यों जी, वह तुम्हारी शर्त्तें मान भी जायँ तो तुम भी मान जाओगे?"

जयवीर ने अपनी पत्नी की ओर देखकर कहा, "इसमें क्या हर्ज है? यशोविजय अलग रहे तो संघ का अधिनायक मैं हो सकता हूँ।"

यशस्तिलका—"तुम? तुम अधिनायक?"

कह कर वह एकदम हँस पड़ी। बोली, "वह होने देगा?"

बसन्त—मैं वचन देती हूँ, बहिन, कि संघ का बहुमत यह चाहेगा तो वह बीच में नहीं आयेंगे।

यशस्तिलका फिर ज़ोर से हँस पड़ी, बोली—"संघ का बहुमत ! बसन्त, तू विनोद तो नहीं कर रही है ? न कहीं संघ है, न बहुमत है। एक तुम्हारे स्वामी हैं और उनकी यह माया है। उसके लिये तुम ये जाल डालने क्यों आयी हो ? तुम्हारी बहिन अंधी नहीं है।"

बसन्ततिलका घबरायी हुई बोली—"यह क्या कहती हो, बहिन ?"

यश गम्भीर भाव से बोली—तू जा बसन्त; कह देना कि सब बात वृथा है। संधि के लिये कोई दूत न भेजें। नातेदारों में संधि नहीं हुआ करती। वह युद्ध चाहते हैं। कहना, जो वह चाहते हैं, होगा।

बसन्त ने कातर होकर कहा—"पर वह युद्ध नहीं चाहते हैं, बहिन ! तुम क्या उन्हें भूल गयी हो ? फिर युद्ध उनके सिर क्यों डाल रही हो ? मुझे विश्वास है कि संघ उनके बिना चल सकेगा, तो मैं उन्हें राज़ी कर लूँगी कि वह अलग रहें। फिर जयवीर अधिनायक बनें, इसमें क्या बहिन तुम्हें खुशी नहीं होगी ?"

यश बोली—"व्यर्थ बात न कर, बसन्त ! तू जानती है कि कुछ उनके बिना न होगा। इससे वह अलग भी न रहेंगे। ख़ैर, इन बीती बातों से होता क्या है ? उससे कह देना कि यश वही है, जिसके रक्त में राजत्व है। कल का जो बना हुआ राजा है, उसकी ओर का कोई संधि-प्रस्ताव वह नहीं सुन सकती।

जयवीर ने कहा—"यश, यशोविजय बीच से हट जायँ

तो संघ-स्थापना का विचार अच्छा ही है। (बसन्त से) लिखित वचन तुम उससे दिला सकोगी ?"

बसन्त—हाँ, शायद दिला सकूँगी।

जयवीर (यश से)—तो इसमें क्या हर्ज है, यश ! लड़ाई में बर्बादी ही है और विजय अनिश्चित है।

यश ज़ोर से बोली—" तो क्यों नहीं कहते कि तुम कायर हो और युद्ध से बचते हो ? "

जयवीर—हाँ, युद्ध से बचता हूँ। कारण, एक तो उससे बचना चाहिये, दूसरे, तुम सी सुन्दरी का सौभाग्य अखण्ड रहना चाहिये।

यश इस पर चिढ़ कर बोली—"मेरा सौभाग्य तो तभी गया जब कायरता की बात तुम्हारे मन में आयी। और मेरा सौन्दर्य यश है। कापुरुषता दिखाकर मेरा अपयश कराना चाहते हो ?—(बसन्त से) सुनो जी, कह दो कि अगर उसकी बात में सच हो तो आगे कोई दूत न आये। और अब तुम्हारे बहनोई को वह युद्ध-क्षेत्र में ही आकर मिले। "

बसन्त स्तम्भित होकर बोली—" बहिन ! "

जयवीर भी आगे कुछ न कह सका।

यश ने कहा—"बसन्त अब उन्हे छोड़ दो। यहाँ आओ।"

अलग जाकर दोनों बहनों में बात हुई। बसन्त बहिन के लिये यशोविजय का एक मोहरबन्द पत्र लायी थी। पत्र पढ़कर यश पीली पड़ आई, बोली, "नहीं, वह यहाँ न आयँ। यहाँ बहुत खतरा

है। उन्हें यह क्या सूझा जो यहाँ आना चाहते हैं?"

बसन्त—उन्होंने कहा था, कि यदि कुछ और सम्भव न रहे तो मैं यह पत्र तुम्हें दे दूँ। बहिन! हम दोनों अनिष्ट को टाल नहीं सकतीं?

यश कुछ देर निरुत्तर खड़ी रही। अनन्तर खोई सी बोली—"वह आयँगे? नहीं, वह नहीं आयँगे।"

बसन्त—उन्हें एक भी अवसर न दोगी? बहिन, वह तुम्हें अब भी चाहते हैं।

यश—मुझे चाहते हैं! पागल तो नहीं हुई हो?

बसन्त—और बहिन मुझे नहीं चाहते!

झट से यश बोली, "बसन्त, तुम्हारा दिमाग़ ख़राब है।"

बसन्त—तो जाने दो बहिन! यह कहो, क्या किसी तरह वह तुम्हें नहीं मिल सकेंगे?

"नहीं बहन, नहीं। यहाँ उनकी ख़ैर नहीं है। कह देना कि ऐसा न सोचें। और बहिन हम लोग कुछ नहीं कर सकतीं। अपने विवाह तक पर तो हमारा वश नहीं है। आगे हम क्या कर सकती हैं? युद्ध होगा तो हो। जाओ बहिन, कह देना कि किसी को किसी पर दया करने की ज़रूरत नहीं है।"

बसन्त सब तरह की कोशिश कर के हार गयी। और लौट कर सब हाल पति को कह सुनाया।

सुनकर यशोविजय कुछ विचारते रह गये। फिर कहा—बसन्त, यश पागल हो गयी है। मैं उससे मिलने जाऊँगा।

बसन्त—पर उसने मना किया है। और तुम्हारा लौट कर आना कठिन है।

यशोविजय हँस आये। बोले—"कठिन मैं नहीं जानता, बसन्त। यह जानता हूँ कि समय से पहले मेरा मरना असम्भव है। और उधर यश एकदम बौरा गयी है। तुम्हीं कहो, मैं रुक सकता हूँ ?"

और यशोविजय नहीं रुके।

× × ×

यशस्तिलका बहुत घबरा गई। जब परिचारिका के हाथ उस ने पत्र पाया कि यशोविजय से आधी रात के समय वह स्वयम् बाहर कुञ्ज में आकर न मिली तो वह शयन-कक्ष में आयेँगे।

यह सूचना पाकर वह किसी तरह कुछ भी अपने लिये निश्चय न कर सकी। जाने का समय हुआ कि कुंज में भी न जा सकी। वह जाग रही थी और जाना चाहती थी। पर पाँव जैसे बँध गये हों। वह उस समय पलंग पर उठ कर बैठी थी, पर उतरकर चलना उसके लिये संभव नहीं हुआ। ऐसे बैठी रहकर अन्त में सब बत्ती बुझाकर वह फिर लेट गई।

यशोविजय ठीक समय पर कक्ष में आ उपस्थित हुए। बत्ती बढ़ाकर देखा कि यश पलंग पर आँख मूँदे लेटी है। सीधे सिरहाने बैठ कर यशोविजय ने हाथ पकड़ कर कहा—'यश, उठो, तुम सो नहीं रही हो।"

वह घबराई सी उठी। चौंक कर बोली—'कौन ?

यशोविजय ने हँस कर कहा,—"मैं हूँ यशोविजय ! उधर का दरवाज़ा बन्द तो है ? इधर का मैं बन्द कर चुका हूँ !"

जैसे हैरत में हो, यश ने कहा—"तुम !—ऐसे समय क्या चाहते हो ?"

यशो—मैं बात करना चाहता हूँ, यश, और यह जानना चाहता हूँ कि हमारी बात कोई सुनेगा तो नहीं ?

यश—तुम कैसे आये ? क्यों आये ? किसकी इजाज़त से आये ?

यशोविजय ने हँस कर कहा—"वह सब देखा जायगा, यश ! मुझे जल्दी जाना है। मेरी बात सुनो। यह बताओ कि मुझ से अभी नाराज़ हो ?"

कहते-कहते यशोविजय ने हाथ से सम्हाल कर उसे अच्छी तरह तकियों के सहारे बैठा दिया।

यश ने कहा—"मुझ से तुम्हें क्या काम है ? मुझे तुम से कोई काम नहीं।"

दीर्घबाहु ने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा— 'नहीं यश, यह रूच बात नहीं है। दोनों को दोनों से काम है। सब को सब से काम हुआ करता है। तुम मुझसे क्या चाहती हो ? तुम जानती हो कि तुम्हारी वजह से मैं राजा बना। मैं तो अपने ढंग का कवि था। तुमने कहा कि राजा बनूँगा, तब तुम बोलोगी। अब देखो, राजा हूँ। अब बोलने से इनकार नहीं कर सकतीं।"

'मुझे इससे क्या ? राजा से महाराजा बनो, तो इसमें मुझसे

क्या कहने आते हो ?"

यशोविजय और पास सरक आये। यश की ठोड़ी में हाथ डालकर कहा, "सुनो, यश, जयवीर से वैर न करो। इतना नहीं कर सकोगी, रानी ?"

हाथ को झटके से अलग करके यश बोली—"क्या बकते हो ?"

यशोविजय ने कहा—"मेरे दोष के लिये जयवीर को दण्ड न दो, रानी, वह तुम्हारे बच्चों के पिता हैं।

यश बेहद क्रुद्ध होकर बोली—"हट जाओ, मेरी आँखों के सामने से। तुम हो कौन जो यों सताने आये हो ?"

यह उत्तर पाकर यशोविजय उस कमरे में ही कदम रखकर घूमने लगे। यश सामने बैठी निर्निमेष देखती रही। धीरे धीरे उसकी आँखें भर आयीं। और उनमें से आँसू बह चले।

यशोविजय घूम रहे थे। वह अपने विचार में थे। सहसा अपना ही हाथ झटक कर बोले—"मुझे समय कम है।"

कहने के साथ ठिठक कर वह यश की ओर मुड़ने को हुआ। उस समय तक काफ़ी आँसू यश की आँखों से व्यर्थ भाव से बह कर सूख गये थे। पर आँखें स्थिर थीं। और आँसुओं की रेखा साफ़ चीन्ह पड़ती थी। दीर्घबाहु ने एकाएक आगे बढ़ कर उसे गोद में लेते हुए कहा—"यह क्या ! तुम रो रही थीं ?—भला क्यों ?"

यश गोद में गिरकर फूट-फूट कर और भी रोने लगी। बोली—"नहीं।"

यह अप्रत्याशित था। यशोविजय ने कहा, "क्यों क्यों; क्या

बात है ?"

यश रोती ही रही; कुछ नहीं बोली। और थोड़ी देर बाद वह चुप होकर उठी तो बोली—"तुम जाओ, यशोविजय, यहाँ न रहो।"

यशोविजय ने कहा—"लेकिन मुझे बताओ, मैं क्या करूँ? लड़ना नहीं चाहता हूँ। राजा होना, अधिनायक होना, कुछ नहीं चाहता हूँ। पर राष्ट्र-संघ का स्वप्न मेरा पुराना है। तुम तो सब जानती हो। उसी के बल पर कवि था तो तब रहता था; राजा हूँ तो अब रहता हूँ। वह गया तो मैं किस के लिये रह जाऊँगा! तुम उस वक्त मेरी हँसी उड़ाती थीं और मुझे पागल कहती थीं। अब भी हँसी उड़ा सकती हो और पागल कह सकती हो। लेकिन मैं क्या तब तुम से नाराज़ हो सका था कि अब नाराज़ होऊँ? यश, तुम्हें मुझ में विश्वास नहीं?—"

यश ज़ोर से बोली—"क्या विश्वास नहीं? चुप रहो।"

यशोविजय कहता रहा—"हम आपस में लड़ते-झगड़ते रहे हैं। एक देश दूसरे का दुश्मन है। छीना-झपटी और मारकाट मचती रही है। इसका अन्त कब होगा? यह शर्म की बात है, यश, कि हम लड़ें और अपनी-अपनी सोचें। मैं आगे बढ़ कर जान देने को तैयार हूँ, अगर उससे सब मिल सकें। संघ बन कर मुझे बरतरफ़ कर सकता है—किन्तु यह लज्जाजनक दृश्य तो हमारे महाराष्ट्र की भूमि पर से मिट जाना चाहिये। यहाँ अनेक राज्य हैं और सब एक-दूसरे की घात में हैं। छल और कपट से राजनीति छा गयी है।

कूट-चक्र का जाल फैला है, आदमी सरल नहीं रह गया है, कुटिलता सीखता जाता है। यश, मैं वही स्थिति लाना चाहता हूँ, जहाँ दबाव न होगा और व्यक्ति प्रकृत-भाव से रहेंगे। प्रकृत-भाव मित्र भाव है। वह आपाधापी नहीं है। वह सहयोग और सहकार है। यश तुम इस काम में मेरी सहायता नहीं कर सकती हो ?"

यश ने मुसकराकर कहा—"यशोविजय, तुम वही पहले से पागल हो। मैं समझती थी, राजा हो गये हो। पर कुछ नहीं, तुम अब भी बोलने लायक नहीं हो।"

यशोविजय ने यश के इस निर्बंधभाव पर प्रसन्न होकर कहा—"हाँ, यश ! मैं वही हूँ। पागल हूँ। लेकिन पागल जान कर ही तुम मेरी मदद करती रही हो। अब क्या उससे विमुख होगी ?"

उस समय यशस्तिलका ने गंभीर भाव से कहा—"सुनो, यशोविजय, तुम पागल होकर समझदारी की बात न करो। पागल को कोई पहिचान नहीं होती। उसके लिये जैसा युद्ध वैसी शान्ति। जैसा एक वैसा दूसरा !"

कहते कहते वह रुकी और उसकी आँखें भर आयीं। फिर आगे कह निकली—"जैसी यश, वैसी बसन्त। जैसा अपना, वैसा पराया। फिर पागल होकर ये क्या मोह में पड़े हो कि युद्ध रोकने को मुझ से मिलने आये हो, पागल तो कभी नहीं घबराता ?"

यशोविजय ने कहा—घबराता नहीं हूँ, यश। पर यह युद्ध अनिवार्य नहीं है, प्रकृत नहीं है। जयवीर शत्रु नहीं है। यश, तुम जानती हो यह लड़ाई सच्ची नहीं होगी और तुम्हारे मन की गाँठ को

और कस देगी । यश, गाँठ को खोल क्यों नहीं देती ? कसती ही उसे क्यों जाती हो ?"

यश ने स्पष्ट भाव से कहा—"यशोविजय, अपनी मर्यादा का तुम्हें ध्यान रखना चाहिए। युद्ध नहीं टलेगा। बाधाएँ कम करके फल का मूल्य ही घटाओगे । यह नहीं होगा यशोविजय। युद्ध में से तुम्हें गुज़रना होगा !"

यशोविजय ने भी असंयत होकर कहा—"और जयवीर को तुम्हारे लिये बलिदान होना होगा! नहीं, यह नहीं होगा, यह बराबर उन ही का न शयनगृह है ?"

कह कर यशोविजय उस ओर का द्वार खोलने आगे बढ़े।

यश भयभीत हो पड़ी। बोली—"हें-हें, उधर कहाँ जाते हो ?

द्वार पर पहुँच कर खोलने की चेष्टा करते हुए यशोविजय ने कहा—"जयवीर को जगा कर कहूँगा, यह मैं हूँ, तुम्हारे शयन-कक्ष से आ रहा हूँ।"

यश ने कुछ नहीं सुना। भागती हुई आकर उसने यशो-विजय की बाँह पकड़ ली; कहा—"अपने पर दया करो, यशो-विजय, क्या तुम्हें पता है कि तुम कहाँ हो ? अब भी तुम मृत्यु के मुँह में हो। ये लो मेरी बात सुनो।"

यशोविजय को पकड़ कर वह लौटा लाई; पर यशोविजय की मुद्रा अब भी कठिन थी। उसने कहा—'सुनो यश, हिंसा से मुझे डर नहीं है। लेकिन जयवीर का बलिदान तुम न दे

पाओगी। मेरे हाथों तुम यह नहीं करा सकतीं। मैं जान चुका हूँ कि वह संघ से विमुख नहीं है; तुम्हीं उसे भड़का रही हो।"

यश क्रोध से बोली—"हमारे बीच में पड़नेवाले तुम कौन हो?"

उसी भाव से यशोविजय ने कहा—"तुमको बलिदान चाहिये तो मैं हूँ। मैं अभी जाकर जयवीर के हाथों अपने को पकड़वा दूँगा। तब तुम्हें शान्ति होगी!"

यश "मुझे शांति? तुम्हें हो क्या गया है?"

यशोविजय—यश, पति निकृष्ट नहीं होता; वह देवता होता है। उसी से स्त्री का सौभाग्य है। जयवीर क्या इसीलिए अविचारणीय है कि वह पूरी तरह तुम पर विश्वास रखता है? इसीलिये उसे मुझसे टक्कर लेकर खंड-खंड होना होगा कि—? तुम चाहती क्या हो?

यश—हाँ, तुम्हारे लिये यह सब कुछ मुझे करना होगा।

यशोविजय—यश, चुप रहो—मेरे लिये करना होगा? क्या मैं राक्षस हूँ?

यशस्तिलका अत्यन्त गम्भीर हो गयी, बोली—"प्रिय, मैं नहीं जानती, तुम क्या हो? पर मेरा सब कुछ तुम्हारे रास्ते में चूर्ण-चूर्ण नहीं हो लेगा, तब तक तुम्हारा काँटा नहीं टलेगा। और मेरी भी मुक्ति नहीं होगी।

यशोविजय ने आवेग से कहा—"यश—"

यशस्तिलका भरी वाणी में बोली, "मेरे प्रिय, तुम जानते

हो कि जगत में एक मेरे ही पक्ष में तुम कमज़ोर हो। मैं इसे नहीं सहूँगी। मैं तुम्हें रंच मात्र भी कमज़ोर नहीं होने दूँगी। मैं न होती तो क्या तुम जयवीर के विचार पर तनिक भी अटकते ? मैं हूँ तो भी तुम नहीं अटकने पाओगे। यशोविजय, मेरे राजा, तुम राजा बने हो, यह काफ़ी नहीं है। तुम्हें सम्राट बनना होगा। रास्ते में तुम्हारी यश विधवा बने, या कि मरे, तुम्हें रुकना नहीं होगा। और यह भी समझ रखो कि उस राह में यश जितनी काम आयगी, उतनी यथार्थ में वह सिद्ध होगी। इसको भावुकता समझ कर तुम उड़ा देना चाहते हो, तो तुम जानो, पर मेरा दूसरा अभीष्ट नहीं है।"

यशोविजय यह सुन कर अब सन्न रह गये। कहा—"क्या इसीलिये कविता से हट कर स्वप्न की कर्म में पूर्ति करने के मार्ग पर चला था ? क्या यही तुम्हारी प्रेरणा थी ? क्या इसी के लिए तुमने मुझे ठेलकर राजा बनने को मजबूर किया था ?"

यश—हाँ, इसीलिये कि विजयी बनो। विवाह कर के तुम साधारण हो जाते; पर तुम्हें असाधारणता पर चलना होगा। मुझे दिया वह प्रण भूल गये कि महाराष्ट्र की अखण्डता तुम्हारा व्रत होगी और बीच में कोई वस्तु तुम्हें न रोक पायगी, लेकिन यह क्या, तुम मुझी पर रुकते हो ?"

यशोविजय ने भर्त्सना के स्वर में कहा—"मायाविनी, अगर मैं अभी सब छोड़कर चला जाऊँ, तो—?"

यशस्तिलका किंचित कटाक्ष से मुस्करा कर बोली—"यही तो कहती हूँ; तुम नहीं जा सकोगे। जिस स्वप्न पर तुमने अब तक का तमाम जीवन व्यय किया है, वह तुम्हें अपनी ओर खींचे बिना न रहेगा। तुम चाहो तो भी दया के वश में न होगे? छिः, दया तुम्हें तोड़ेगी?

यशोविजय ने कहा—"यश, तुम मेरी किसी असाधारणता पर नहीं, अपनी असाधारणता पर मुग्ध हो। पर यह भ्रम है। सुनो, मैं द्वार खोलकर जयवीर के पास जा रहा हूँ—चौंको नहीं, डरो नहीं। एक बार मुझे कुछ वह भी करने दो, जो तुम्हारी योजना से बाहर है। जयवीर मुझे पकड़ सकता है, सज़ा दे सकता है, पर वह यह न करेंगे। मेरी मृत्यु अभी नहीं है। लेकिन मैं यह नहीं देख सकता कि जयवीर को मुझ से लड़ना हो।"

यश—न, न—वहाँ न जाओ। मैंने ही इस राज्य में तुम्हारे लिये नागफाँस बो दिये हैं। तुम्हारे नाम का यहाँ इतना आतंक है कि डर के कारण ही वे तुम से घृणा करने को लाचार हैं। अवस्था यह है कि वह चाहने पर भी तुम से संधि नहीं कर सकते, तुम्हारा इतना गहरा अविश्वास यहाँ फैला दिया गया है। जानते हो—क्यों? इसलिये कि युद्ध हो और तुम विजयी हो। यहाँ एक मैं हूँ जो तुम्हें प्रेम करती हूँ। और मैं ही हूँ जो सब घृणा की जड़ में हूँ। यह मेरे ही कक्ष में तुम सुरक्षित हो। बाहर तुम्हारी ख़ैर नहीं है और मैं किसी तरह तुम्हें बाहर नहीं जाने दूँगी।

यशोविजय ने हँस कर कहा—"तुम मुझे क़ैद करोगी? यही

तो मैं चाहता हूँ।"

यश—मेरे दो विश्वस्त अनुचर तुम्हें नगर से बाहर पहुँचा आयँगे, तुम किसी तरह यहाँ किसी पर प्रकट न हो सकोगे।

यशोविजय मुस्कराकर बोले—"राजा यशोविजय को इस प्रकार आने-जाने का अभ्यास नहीं है, यश! और तुम निश्शंक रहो। प्रेमवश तुम्हारी वह घृणा मेरा अपकार न कर सकेगी।"

कहकर बिना कुछ और सुने जयवीर की ओर के कक्ष का द्वार खोलकर यशोविजय वहाँ से चले गये। यशस्तिलका भय-कातर होकर देखती भर रह गयी। सोच उठी कि क्यों न झपट कर अभी यशोविजय को आसन्न मृत्यु में से मैं खींच लाऊँ? पर उसके देखते-देखते दूसरी ओर से वह द्वार बन्द कर दिया गया। तब परकटे पक्षी की भाँति वह अपने बिस्तर पर आ पड़ी।

× × ×

अगले दिन मालूम हुआ कि जयवीर संधि के लिये तैयार हैं। और दोनों ओर के मंत्रियों की मंत्रणा एक तीसरे स्थान पर होना तय पा गई है।

यशस्तिलका ने पति से कहा—"यह तुम्हें क्या हो गया है? दो दिन पहले तुम युद्ध को तत्पर थे; इस बीच क्या नई बात हुई?"

जयवीर ने कहा—"रात यशोविजय आया था।"

यश चौंककर बोली—"यशोविजय?"

"हाँ, यह कहने आया था कि संघ के अधिनायकत्व के

लिये वह मेरा समर्थन करेगा। स्वयं वह चुनाव में खड़ा नहीं होगा। इस आधार पर मैं जरूर संधि कर सकता हूँ।"

यश ने कहा—"और तुमने उसका भरोसा कर लिया?"

"हाँ, कर लिया।"

"क्या कह रहे हो? यशोविजय का विश्वास!"

जयवीर ने कहा—'विश्वास का कारण है। एक तो यह कि उसके पास शस्त्र और सेना ज़्यादा है। दूसरे यह कि उसने मुझे बताया कि वह तुम से मिल कर आया है।"

सुन कर यश चीख़ सी मार कर आँखें फ़ाड़े स्तब्ध रह गई।

जयवीर ने कहा—"यश, तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है। तुम्हें आराम करना चाहिये।

"तो तुम संधि करोगे?"

जयवीर ने कहा—मैं दूसरा मार्ग स्वीकार नहीं कर सकता। यशोविजय का कहना था कि मैं उसके राज्य को अपने में मिला लूँ और वह मेरे अधीन मन्त्री होने को तय्यार है। शर्त्त यही कि सम्मिलित-राज्य संघ का समर्थन करे। पर यश, तुम्हारी छोटी बहिन का पति राजा से कम हो—इसमें हमारी शोभा नहीं है। इसलिये दूसरा संधि का मार्ग ही मैंने स्वीकार किया—

"यश चकित, विस्मित सी रह गयी थी। एकाएक बोली—"यशोविजय, तुम्हारा मन्त्री! और तुमने स्वीकार किया?"

"हाँ, वह यही कहने आया था, और मैंने स्वीकार नहीं किया। मैंने कहा—"तुम्हारे पास तो मुझ से ज्यादा फ़ौज है, तो वह आँसू भर लाया। ऐसे आदमी का तुम मुझे अविश्वास करने को कहती हो? लेकिन यश, वह तो कहता था कि तुम संधि के लिये राज़ी हो चुकी हो!"

यश जैसे चौंक कर बोली—"क्या, कौन?"

जयवीर ने कहा—"बात उठते ही मैंने उससे कहा कि संधि के बारे में यश से पूछना होगा। तब वह बोला—कि क्षमा करना, मैं वहीं से आ रहा हूँ। यश ने मुझे मुआफ़ कर दिया है। और वह संधि के लिये राज़ी है। क्यों, क्या यह बात झूठ है?"

यश ने कहा—"नहीं, सच है।"

कहते हुए उसकी वाणी साधारण से थी अधिक स्थिर थी। फिर भी हठात हँस कर वह बोली—"तुम ने उसका अविश्वास नहीं किया? आधीरात मेरे कक्ष से आ रहा था, यह क्या सज्जन का लक्षण है?"

जयवीर ने कहा—"तुम्हारा अविश्वास करूँगा, उस दिन क्या मैं जीवित रहूँगा?"

यह सुन कर यश अपने पति की ओर निहारती रह गयी। बोली,—"मेरे कारण तुम्हें यशोविजय का विश्वासकरना पड़ा। क्यों?"

जयवीर ने कहा। "हाँ, आधी रात तुम्हारे पास से आकर खुद मुझे जगाकर कोई मुझ से झूठ तो नहीं कह सकेगा?"

यश ने कहा—"तो अच्छा उठो, मुझे मेरे कक्ष तक पहुँचा आओ।"

बीऽट्रिस

"नहीं, मैं रायसाहब की सम्मति से सहमत नहीं हो सकूँगा।" अवकाश-प्राप्त मेजर रघुराज ने कहा—"स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध वह नींव नहीं है; जिस पर नीति या धर्म को खड़ा होना चाहिए। वह आनुषंगिक बात है। उसका कुछ भी मतलब नहीं है। उस पर से किसी के बारे में कोई राय मैं कायम नहीं करूँगा।"

डा० कैलाशनारायण ने कहा—"तब आखिर वह मान हमारे पास क्या रह जायेगा, जिससे हम चरित्र को नापें? सम्बन्धों में एक मर्यादा तो होनी चाहिए। वह मर्यादा मानसिक होकर अनिश्चित हो जायगी। इससे उसे शारीरिक ही रखना होगा।

रायसाहब ने कहा—"मैं तर्क नहीं कर सकता। मैं बहुत नहीं जानता। दिमाग से जानी बात अन्तिम होती भी नहीं, हमारी धारणायें मन-बचाव हैं। सचाई उनसे घिर कहाँ पाती है?"

डाक्टर ने तब हँसकर कहा—"छावनी और समाज अलग

चीज़ें हैं। समाज मर्यादाओं को मानकर ही चल सकता है—छावनी में इन चीज़ों के बारे में शिथिलता हो तो क्या अचरज ?" कहकर डा० नारायण ने विजय की मुस्कराहट से मेजर को देखा।

मेजर उदास थे, बोले—"यह बात ठीक है। हम फ़ौजियों में उच्छृङ्खलता होती है। लेकिन मुझे आपके समाज में चरित्र की वह ऊँचाई मिली जिसका अनुभव फ़ौज की चरित्रहीनता में मुझे हुआ है, यह कहना कठिन है। मैं अपनी बीती सुनाता हूँ।"

कहकर अनुमति की अपेक्षा में मेजर ने दोनों बन्धुओं की तरफ़ देखा।

डाक्टर कैलाश ने कहा—"हाँ, सुनाओ, फ़ौज के किस्से चटपटे होते हैं।"

खिन्न मुस्कराहट से मेजर ने आरम्भ किया—"हाँ, चटपटे तो होते हैं। लेकिन...तब की बात है जब जर्मनों से फ्लेंडर्स में हमारा मुकाबिला हुआ था। हमारी टुकड़ी आगे थी। बढ़कर हमने एक पहाड़ी पर कब्ज़ा किया हुआ था। और उनकी भीषण गोला-बारी भी हमें वहाँ से न हटा सकी। वह जगह ख़ास मौके की थी और जर्मनों को आगे कदम बढ़ाने के लिए उस पहाड़ी को कब्ज़े में लेना बहुत ज़रूरी था। मैं टुकड़ी की कमान पर था। धीरे-धीरे हमारे आदमी कम होते जा रहे थे। पीछे से रसद भी टूट गई थी। हमने पीछे से सम्बन्ध जोड़ना चाहा, पर जर्मनों ने हमारे दरम्यान दरार डाल दी थी। अब हमने देखा कि हम घिर गये हैं। कुछ देर और भी हम पहाड़ी की चोटी पर टिके रह सकते थे। लेकिन इससे

पहले कि जर्मनों का घेरा हम पर कसता जाय और हम घुट जायँ; मौका था कि पीछे की अपने दरम्यान जर्मनों की दरार तोड़ते हुए हम अपने मेनकैम्प में जा मिलें। यही उपाय था कि हम अपने कुछ आदमियों और सामान को बचा सकते। तत्काल यह निर्णय करके पीछे की तरफ़ हमने पहाड़ी उतरना शुरू किया। नीचे नहीं आ पाये थे कि दुश्मन की गोलियाँ सनसनाती आने लगीं। हम थोड़े जन बचे थे और गोला-बारूद भी कम था। बड़ी तोप ऊपर से ला न सके थे। मैंने मालूम कर लिया था कि यहाँ शत्रु की एक पंक्ति है। सीना खोल कर सीधे तेज़ चाल से बढ़ते चले जाँय तो संभव है कि कुछ हम में से बच कर निकल जाँय। जीते जी जर्मनों के हाथ हम में से कोई क़ैदी बनने को तैयार नहीं था। सब लोग तत्पर थे कि गोलियों की बौछार में से भी बढ़ते ही जायँगे। यह सोचकर धीमे-धीमे घुटने और कहीं पेट के बल रेंगते, पेड़ों की ओट लेते ऐसी जगह हम आ गये जहाँ से दुश्मन के आदमियों पर थोड़ा-बहुत निशाना साधा जा सकता था। वहाँ से जितने हो सके दुश्मन के आदमियों को हमने निशाना बनाया। फिर कारतूस ख़तम होने पर संगीन खोलकर दो-दो की कतार में हम आँख की सीध में तीर की तरह भाग छूटे।

आगे कह नहीं सकता कि क्या हुआ? कौन कहाँ गिरा और कैसे मरा, पता नहीं। उस जोती मौत से मेरे सिवा टुकड़ी में का एक ही आदमी और बच सका। मुझे तो संगीन खोलकर भागने के क्षण के बाद अस्पताल में ही अपना पता चला। चारों

तरफ से गोलियाँ बरस रही थीं। और मैं चलता चला जा रहा था। कहाँ, कब, क्या, किधर—सब कुछ मेरे लिये लोप हो गया था। मानों पहाड़ की चोटी से अनल अथाह में मैं कूद पड़ा था। मालूम होता है कोई गोली मुझे नहीं लगी थी। पेट में से कोई कारतूस निकला। बड़े गोले से निकलीं उनकी छोटी-बड़ी बर्छियाँ मेरे पेट को छलनी कर गयी थीं।

जो हो, मैं कैम्प के अस्पताल में था। और होश आया तब पेट में बहुत घाव था।

फिर तो फ्लैंडर्स में हमें और भी पीछे हटना पड़ा। यहाँ तक कि उसे छोड़ना ही पड़ा। मैं कुछ दिनों बाद कैम्प के अस्पताल से लंदन के एक अस्पताल में आ गया।

अस्पताल में मुझे पूरे पाँच महीने रहना पड़ा। चलते समय मन में था और अब भी है कि क्या ये संभव नहीं हो सकता कि मैं बीमार रह कर सदा उसी अस्पताल में रहा चला आऊँ? यह प्रश्न अस्पताल की एक सिस्टर के कारण मन में हुआ था।

यहाँ कुछ अपनी बात कह लूँ। फौज में मैं किसी विश्वास के कारण नहीं था। जर्मनों से घृणा नहीं थी। देश पर प्रेम नहीं था। वेतन का लोभ था--यह भी न कह सकूँगा। बात यह थी कि अपने साथ मैं कोई ख़तरे का खेल खेलना चाहता था। मेरी समझ में न आता था कि क्यों जी रहा हूँ, क्यों जीऊँ? इस की तुक खोजे न मिलती थी। कोई मुझे अपने लिये केन्द्र प्राप्त न था। रोमांस के दिन बीत चुके थे। वह मूर्खता भी अब वश की न थी। प्रेम आकाश

से उतर शरीर पर आ गया था और उस तल पर बराबर ज़िंदगी में साथ चल रहा था। पर आकृष्ट बिलकुल न करता था। बल्कि ऊब होती थी। अब वह प्रेम एक लगी लत भर था। स्त्री आवश्यक पदार्थ से अधिक न रह गयी थी। पत्नी थी पर उसे मेरी चिन्ता न थी। और बच्चों को छोड़े मुझे वर्षों हो गये थे। फ़ौज ने जीवन के तल को शारीरिक बना दिया था। और मुझे ऐसा लगता था कि मुझे जीना नहीं है सिर्फ़ रहते जाना है। जिसे सिर्फ़ रहना है, वह सब चीज़ों से पाक है। उसे नेक और बद नहीं रहते। उसके लिये कहीं कोई अर्थ ही नहीं रहता। शायद कुछ ऐसी ही वजह हो कि हम फ़ौजी झड़प के लिये, नशे के लिये और मौत के लिये सदा तैयार रहते हैं। बन्दूक उठायी और सामने वाले को मार दिया। उसने बन्दूक तान ली तो उसकी नली के मुँह की सीध में बढ़ते चले गये। जब हर घड़ी सिर पर मौत है और कहीं कोई मतलब नहीं है, तो समझा ही जा सकता है कि ऐसे आदमी का नतीजा क्या होगा! फ़ौज के कवायद ही मानों हमको कायम रखते थे। दिनों का चक्कर तब मानों अपने ही ज़ोर से चलता था। हमें कुछ न करना होता था।

अब अस्पताल के भी कवायद हैं। इतनी बार और इस वक्त टेम्परेचर; बँधे वक्त दवाओं के डोज़ और बँधा खाना; डाक्टर और सिस्टर का चक्कर और नर्सों की हाज़िरी।

मैं जख्म का ड्रेसिंग आराम से करा लेता था। घाव गहरा और बड़ा था। समझा जाता था कि ऐसे घायल को रोना-

चीखना चाहिए। ये उम्मीद डाक्टरों, नर्सों और आस पास के लोगों की आँखों में मुझे स्पष्ट दीखती थी। मेरी तरफ़ से उनको इस विषय में निराशा ही मिलती गयी। दर्द अन्दर से बहुत मालूम हो रहा है और ऊपर से मैं काबू किये हुए हूँ—ऐसा आभास भी मुझ पर से उन्हें न मिलता था। इस तरह धीरे-धीरे करके डाक्टर और दूसरे लोग मेरे जख्म के साथ किसी कदर आज़ादी से पेश आने लगे।

ड्रेसिंग की बात तो यह। लेकिन दवा का पीना मुझे नागवार था। न तो वह ज़हर था; न खुश ज़ायका ही थी। अधिक-सेर-कड़वी चीज़ पी जाने की कोई बात हो तो लुत्फ़ भी है। आधा चम्मच पीने में क्या बहादुरी है? ऐसी छोटी-मोटी तकलीफें पाना या देना मुझे पसन्द नहीं। तलवार का भरपूर हाथ सिर को धड़ से जुदा कर दे तो उसमें एक सफ़ाई की बात है। पर पिन चुभाने में क्या इन्सानियत है?

दवा का पैमाना लेकर नर्स सिरहाने आ खड़ी होती तो मैं उसकी तरफ़ देखता रह जाता। जी होता कि कहूँ कि ज़हर लाई हो तो लाओ, पियूँ। पर तमाशा मुझे अच्छा नहीं लगता। पर मैं नर्स की तरफ़ देखकर जान-बूझकर कुछ भी कहने से रह जाता था। वह आकर पैमाना लेकर, ऐसी मशीन के पुर्जे की तरह अचल खड़ी हो जाती कि मुझे खयाल होता कि एक बेड के पास डेढ़ मिनट रहकर फिर दूसरे पर इसे चला जाना है। इसे दवा से या मरीज़ से वास्ता नहीं है। ड्यूटी से ही वास्ता है। उस

तमाम चेहरे पर ड्यूटी को लिपे-पुते देखता तो तत्काल हाथ बढ़ा कर दवा का गिलास लेकर हलक में डाल लेता। फिर नर्स को देखने लगता। वह चार्ट उतारती, करने का काम करती, और आगे बढ़ जाती।

वहाँ की नर्सों के चेहरे पर अधिकतर मुझे यह ड्यूटी ही लिखी दीखती थी। और मैं दवा पीने जैसे व्यर्थ काम को स्कूल के बच्चे की तरह पूरा कर जाता था।

लेकिन एक नर्स आयी, जिसके चेहरे पर डयूटी के सिवा और भी कुछ था। ड्यूटी वहाँ शायद थी ही नहीं। वह नई आयी है। शोख़ है। और बेबात हँसती है। किसी कदर बदन की दोहरी है। दवा देने से पहले बात करती है। बात करने से पहले मुस्कराती है। यह सब ड्यूटी में शामिल नहीं हो सकता। इसकी उससे माँग नहीं है। और यह अयाचित है। फिर हँसने और सब से बोलने-चालने की उसे क्या लाचारी है?

उस पर नर्स की इस व्यर्थ निष्प्रयोजन बात से हमारे वार्ड की हवा बदल गयी है। मरीज़ महसूस करते हैं कि वे आदमी हैं। वे ये भी महसूस करते हैं कि नर्स सिर्फ़ नर्स नहीं है; वह स्त्री है।

ख़ैर, पहले रोज़ वह सिरहाने आयी और हँस कर बोली—"दवा, मेजर तुम्हें खुद मुझ से ले लेनी होगी, मैं नहीं दूँगी; हाथ बढ़ाओ।"

तब मुझे बहुत कौतुक मालूम हुआ,—बोली—"कोशिश करो, पर देखो मेरा हाथ न छूना।"

मैंने तब मन की बात उसे कही। कहा—"एक काम करो; चुपके से यह दवा नीचे गिरा दो, तुम बड़ी अच्छी हो।"

एक साथ मुँह पर डर लाकर वह बोली, "ओ बाबा! कोई देख लेगा!"

मैंने कहा—"कोई नहीं देखेगा, तुम्हारी बड़ी मेहरबानी होगी!"

बोली—"अच्छा, तो तुम मेरा हाथ भी छू सकते हो। लो, अब तो पियो!"

इस पर मैंने उसके हाथ से दवा ली और गटक गया।

अगले दिन वही नर्स सिस्टर के साथ आई। मेरा चार्ट और दवा आदि दिखलाकर बोली—"देखिये, क्या इनकी दवा अब बदली नहीं जा सकती? यह शिकायत करते हैं कि दवा इन्हें माफ़िक नहीं आती?"

सिस्टर ने चार्ट को ग़ौर से देखा फिर मुझ से पूछा।

ख़याल नहीं कि क्या पूछा, उनकी गर्दन मेरे ऊपर कुछ और झुकी हुई थी। मुँह कुछ पूछ रहा था और आँखें मेरी तरफ़ देख रही थीं। आँखों में कुछ तैरती हुई वस्तु थी। तमाम चेहरे पर ही कुछ था, जिससे मैं स्तब्ध रह गया। मैं नहीं सुन सका कि मुझ से क्या पूछा जा रहा है। यानी सुनकर ठीक-ठीक तरह से समझ नहीं सका। उस चेहरे के भाव में मैं खो गया। होश मुझे तब हुआ, जब मैंने पाया कि मेरा हाथ उनके हाथों में है। और वे उसके नाखून देख रही हैं। फिर उन्होंने मेरी आँखों के पपोटे खोलकर देखे। पेट

का जख्म देखा। सब देखकर नर्स से मुड़कर पूछा—"डाक्टर से कहा था?"

नर्स ने कहा—'ये मरीज़ कभी किसी से कुछ नहीं कहता। अब तक एक बार भी यह चीखा-चिल्लाया नहीं है। जख्म बेहद गहरा है और दर्द न होना असम्भव है—"

मैं ने बीच में टोक कर कहा—"दर्द मुझे नहीं है। होता ही नहीं है।"

सिस्टर ने इस पर मेरी ओर देखा, मुस्करा कर बोली—"तुम्हारा क्या मतलब?

मैं ने कहा—"शायद मेरे दिमाग़ की नसें कहीं जड़ हो गयी हैं, दर्द को मेरी चेतना तक नहीं पहुँचातीं।"

मैं अपने सम्बन्ध में किसी सहानुभूति की आवश्यकता से उन्हें निश्चिंत बना देना चाहता था। इसलिये मानों किताब से ही शब्द उठाकर मैंने उन्हें कह दिये थे। मुझे अपने प्रति किसी की सहानुभूति अच्छी नहीं लगती। यही काफ़ी शर्म थी कि मैं बिस्तर पर पड़ा था। उसके ऊपर किसी की सहानुभूति भी व्यय करनी पड़े, यह तो असह्य ही था। और फिर स्त्री।

सिस्टर आँख फाड़ कर मुझे देखती रही। अनायास दोहरा कर यही बोली—"क्या मतलब?"

यह बात जैसे उसने मुझ से नहीं पूछी हो; स्वयम् अपने से ही पूछ रही हो।

मैंने उत्तर में कुछ का कुछ बक दिया। कहा "कि जैसे आप

के पास बाहरी साधन हैं; जिससे दर्द के अनुभव को मन्द या बन्द किया जा सके; इसी तरह अन्दर के भी साधन हैं। हम भारतीयों में यह योग-विद्या प्राचीन है। चाहे शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जायँ, तब भी सम्भव है कि नए कष्ट न अनुभव हों।"

सिस्टर विस्मित भाव से मेरी ओर देखती रही।

उस समय मैं प्रगल्भ हो और योग-क्रिया के अद्भुत की महिमा बताने लगा। सुनते-सुनते बीच में सिस्टर ने झुक कर मेरे माथे पर हाथ रखा। और कहा—"अब कुछ सो जाओ तो अच्छा है!"

मैं इस बात पर असन्तुष्ट-भाव से सिस्टर को देख उठा। कहा—"योग-शक्ति जिसके पास है उसे हफ्तों नींद न आये तो पर्वाह नहीं।"

सिस्टर सुनकर मेरे तकिये के पास बैठ गई। बोली—"अब तुम बोलोगे नहीं, कृपया चुप होकर सो जाओ!"

मैंने कहा—मुझे नींद की आवश्यकता नहीं! क्या आप समझती हैं कि मैं रात में सोता हूँ ?"

सिस्टर ने अपने हाथ मेरी आँखों पर रख दिये और स्नेह-भाव से कहा—"अब तो मैं कह रही हूँ—सो जाओ।"

यह 'मै कह रही हूँ' कहने वाली 'मैं' ऐसी मेरी कौन है कि मुझे सो जाना होगा। क्षण के सूक्ष्म भाग तक यह प्रश्न मन में घूम कर स्वयं ही जैसे खो गया। उन हाथों के नीचे आँखों को बन्द कर मैं सब तरह की योग-विद्या को किनारे करके सोना चाहने लगा।

नर्स सिस्टर के पीछे खड़ी हुई थी—उसे कहा—"तुम अब जा सकती हो!"

कह कर वह मुझे आँखें खोलते देख कर बोली—"डरो नहीं, मैं बैठी हूँ। सोने की कोशिश करो।"

मैं सोने की कोशिश करने लगा। सोने की कोशिश सब तरह की कोशिशों का अभाव ही है। स्नायु के तनाव शिथिल हो रहें तो नींद आप आ जाती है। सिस्टर के पास होने से सचमुच एक श्लथता सी देह में आने लगी। अपनेपन का मान अनावश्यक-सा हो चला। थोड़ी देर बाद मैंने कहा—"अब तुम जा सकती हो, सिस्टर!"

"तुम बात तो नहीं करोगे?"

"नहीं।"

"आँखें भी नहीं खोलोगे?"

"नहीं।"

"वचन दो तो मैं जा सकती हूँ।"

सच यह कि सिस्टर का इस तरह किसी के सिरहाने बैठना वैधानिक नहीं है। पर देखता हूँ कि इन सिस्टर से विधान नीचे है। इनके सम्बन्ध में पाबन्दियाँ उतनी कड़ी नहीं देखी जातीं। यहाँ सब उनको मानते हैं और आदर करते हैं।

मैंने कहा—"वचन भी देता हूँ, तुम जा सकती हो।"

उसने हाथ मेरे चेहरे पर से हटा लिया। मैं आँखें बन्द किये पड़ा रहा। लेकिन उन्हें उठ कर जाने की जल्दी नहीं मालूम हुई।

बोली—"यहाँ परदेश में तुम्हें बहुत अकेला लगता होगा ?"

मैं सुनता हुआ चुपचाप आँख मूँदे पड़ा रहा।

बोली—"हिन्दुस्तान हमारी लड़ाई में लड़ रहा है—यह उसका बड़ा अहसान है।"

इस बिन्दु पर मेरे मन में दुःख है। अङ्गरेज़ की न्याय से अधिक मतलब पर आँखें नहीं है, यह अपने अनुभव के आधार पर मैं नहीं कह सकता। इसीलिये उस बात पर छेड़ा जाना मैं पसन्द नहीं करता और मैंने कोई उत्तर नहीं दिया।

बोली—हिन्दुस्तान हमारे आधीन है। इसलिये हमारी लड़ाई उसके लिये प्रिय हो सकती थी; पर आप लोग लाचारी से नहीं, खुशी से जान दे रहे हैं। इस पर भगवान के सामने मेरा सिर नीचा हो जाता है। तुम यहाँ बहुत अकेले तो नहीं हो ?"

मैंने कहा—"नहीं।"

"नहीं।" इस लिये कहा कि मैं किसी से इस की चर्चा नहीं करना चाहता था। अंग्रेज़ों में हमारे कालों के लिये प्रेम सचमुच नहीं है। हम से काम ले सकते हैं; मन नहीं मिला सकते। पर इस बात की मुझे शिकायत क्या करनी है!

बोली—"अब से इकले न रहोगे।"

मैंने कुछ चिढ़ कर धीमे से कहा—"धन्यवाद, मैं सोने की कोशिश कर रहा हूँ—आप जा सकती है।"

"मुझे दुःख है" कहती हुई वहाँ से उठ कर वह चली गयी।

आज का यह दिन अस्पताल के और दिनों से कुछ अलग

ही तरह का था इस समय मुझे मालूम हो रहा था कि रोना दुर्गण नहीं है , मैं रोना चाहता था। दुख से मैं नहीं घबराता हूँ; पर सुख मुझ से नहीं झिलता। शायद दुख के कारण ही मैं उस समय रोना चाह रहा था । ख़ैर, मन का और शरीर का तनाव सिस्टर के सान्निध्य से शिथिल हो रहा था, और मुझे नींद आ गयी थी।

उसके बाद अगले रोज़ ड्रैसिंग के समय घाव में मुझे पहली बार दर्द मालूम हुआ। मैंने ऊपर को निगाह कर अपने आस-पास देखा । वह सिस्टर इस समय नहीं थी । वह होती तो मैं कराहकर कहता कि सिस्टर मुझे दर्द मालूम पड़ता है। लेकिन जब दूसरों के चेहरों को देखा; तब लगा कि दर्द मुझे व्यर्थ ही मालूम हुआ है। और सदा की भाँति धीर और प्रसन्न भाव से अपने ऊपर ड्रैसिंग का काम मैंने पूरा कर लिया।

डाक्टरों के चेहरे का विस्मय देख कर मैं उल्टे उन्हें ढाढस देता था कि आप अपना काम बेफ़िक्री से कीजिये । मुझे किसी तरह की कोई तकलीफ़ नहीं होगी ।

दवा देने के लिये नर्स वही आई। हँस कर बोली—"दवा नहीं है, शर्बत है। पीकर देखो।"

मैंने कहा—"शर्बत क्यों है ?"

बोली—"सिस्टर स्वयं जो मीठी हैं।"

सुनकर मैंने गिलास लिया और दवा मुँह में डाल ली। इस बार वह सचमुच मीठी थी। मैंने कहा—"क्या मज़ाक है ? मुझे दवा दी जा रही है या बहकाया जा रहा है ? कृपया डाक्टर

से कहिये, मैं बच्चा नहीं हूँ।"

नर्स का चेहरा सुनकर बेरंग हो गया; बोली—"लेकिन यह दवा ही है—नई दवा है।"

मैंने कहा—दवा को कड़वा होना चाहिये। मेरी दवा को तो ज़हर होना चाहिये। मैं फौजी हूँ; सिविलियन नहीं हूँ। आप लोग...इस तरह की दवा मैं कभी नहीं पीऊँगा।"

नर्स हैरत में होकर मुझे देख उठी थी। उसके चेहरे को देख कर मुझे अपना रोष अत्यन्त व्यर्थ मालूम हुआ और मैंने कहा—"मुझे खेद है, नर्स। मेरी बात ख्याल में न लाना। तुम तो इस वार्ड की रौनक हो। तुम से मैं नाराज़ कैसे हो सकता हूँ?"

मुझे मुस्कराता हुआ देख कर क्षण-भर में वह आश्वस्त हो आई और बोली—"आपने तो मुझे डरा दिया।—सिस्टर को भेजूँ।"

"हाँ, कृपया भेजो।

थोड़ी देर में सिस्टर आ गई। अब मुझे मालूम हुआ कि गुस्सा मुझे क्यों था। गुस्सा सिस्टर पर था। वह इस लिये था कि सिस्टर क्यों इतनी शान्त, मृदुल और सहानुभूतिशील है। मैं यह सब बिल्कुल पसन्द नहीं करता। आदमी को मैंने अनावृत देखा है। भीतर हर कोई नंगा है। ऊपर कपड़ों का परदा है। अन्दर से वह स्वार्थी है; विषयी है और हिंसक है। संस्कारिता ऊपरी है। भीतरी तत्व पशुता है। इसीलिये मानो सिस्टर मुझे धोका दे रही हो।—ऐसा कुछ मुझे उस पर गुस्सा आ रहा था।

उसके आते ही मैंने कहा—"मैं हिन्दुस्तानी हूँ, तो क्या मेरे

साथ मज़ाक किया जायगा? अब से नई दवा मैं हरगिज़ नहीं लूँगा। मैं दया के लिये नहीं हूँ !

सिस्टर ने क्षण भर मेरी ओर देख कर नर्स से पूछा—"क्या है ?"

नर्स ने घबराकर कहा—"मैंने तो वही दवा दी थी !"

सिस्टर ने मुझ से पूछा—"दवा में ख़राबी थी ?"

मैंने ज़ोर से कहा—"हाँ, वह दवा नहीं थी। नर्स पर बात को न टालिये, सिस्टर। दवा कड़वी न हो तो मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता। इसका मतलब जानती हैं आप, क्या है ? मतलब है कि आपको मुझ पर करुणा है। अब कृपया सुनिये । मुझ पर करुणा मेरा अपमान है।

सिस्टर उस पर शान्त भाव से मुस्करा आई । बोली—"ओ, यह बात है ! नर्स तुम जा सकती हो। सब ठीक है।"

फिर मुझ से कहा—"योग-शक्ति कड़वे को बर्दाशत कर सकती है, मीठे को नहीं ? तब तो वह शक्ति कमज़ोर है।"

कह कर मेरे हाथ उठाकर नाखूनों को देखा और कल की ही भाँति पपोटों को भी देखा। कहा—"वह दवा नहीं, टॉनिक है। घाव के लिये अब पीने की ज़रूरत नहीं है। अब तो हमें कमज़ोरी का ही ख़याल रखना होगा।

मैंने रोष में कहा—"योग-शक्ति को आप नहीं मानती ?"

उसी मधुरता से बोली—"मानती हूँ, पर गुस्से में तो उसका प्रकाश नहीं है ?"

मेरी क्या मति थी ! कल सिस्टर के जाने के बाद दिन भर मैं सोचता रहा था कि वह आयँगी तो मैं कहूँगा कि सिस्टर मुझे ज़ख्म में दर्द मालूम होता है। बहुत मालूम होता है। तुम जाओ नहीं, बैठ जाओ। सोचता था—नाम पूछूँगा, परिचय जानूँगा, अपना परिचय दूँगा। पर सिस्टर सचमुच अब आई है तो बेबात उस पर क्रोध कर रहा हूँ। मैंने कहा—"दृढ़ता को आप गुस्सा कहती हैं ? आपको कुछ अधिक जानना चाहिये !"

सिस्टर सुनकर लज्जित हो आई। बोली—"आप मुझ से नाराज़ हैं। हमारे दोष बहुत हैं। पर नाराज़ी से क्या दोष दूर होंगे ?"

मैंने कहा—"लेकिन मैं ठीक हूँ। मुझपर सदय होने का कोई कारण नहीं है।"

सिस्टर ने हँसकर कहा—"लेकिन मुझ पर आप सदय हों, इसका तो कारण है।" आप से योग-विद्या मैं लूँगी। पर अभी तो आप और मैं दोनों कमज़ोर हैं। वह कीमती चीज़ है। फिर काम आयगी। पर अपने को आप कसकर क्यों रखते हैं ? खुला छोड़ दीजिये। अस्पताल और विदेश इसे मत मानिये। मुझे अपना, घरका, ही मानिये। दर्द में अस्वाभाविक क्या है ? हाँ, ग़ैर के सामने दुख दिखाना ग़लत है। लेकिन मैं ग़ैर नहीं हूँ। तुमने तो मेरा परिचय भी नहीं पूछा। मेरा नाम बीऽट्रिस है।

" दांते की बीऽट्रिस ?

मृदु मुस्कराहट से बोली—"उधर एक स्पेशल वार्ड आज खाली हो रहा है। यह पास ही है। वहाँ जाना नापसंद तो नहीं होगा ?"

मैंने विस्मय से पूछा—"क्यों ?"

हँसकर बोली—"क्योंकि जहाँ तक मैं समझती हूँ, उस में नापसंदगी की कोई बात नहीं है।"

मैंने उस पर आँख गड़ा कर कहा—"लेकिन क्यों ?"

बोली—"व्यवस्था ऐसी ही हुई है !"

हाल के एक ओर सिस्टर का कमरा है। वार्ड की देख-भाल उन पर है। सामने एक कमरा दवा के लिये है; दूसरा सामान के लिये और तीसरा मुलाकातियों के लिये है। उसके मुकाबिले सिस्टर के कमरे से लगे हुए दो स्पेशल वार्ड के कमरे हैं। उन में सब में आपस में रास्ता है। ये कमरे ज़्यादातर ऊँचे लोगों के काम आते हैं। सब की इच्छा वहां जाने की रहती है। इसीलिये मैं अचरज में पड़ कर बार बार बीऽट्रिस से क्यों-क्यों पूछता रहा।

मैंने कहा—"मैं यहाँ से जाना नहीं चाहता। यहाँ सब तो ठीक है।"

बीऽट्रिस ने कहा—"मैं अस्पताल की मालिक नहीं हूँ। जो व्यवस्था हुई है, मैंने कह दी, यहाँ की व्यवस्था में भंग नहीं पड़ा करता है। और मैं इसमें लाचार हूँ।

परिणाम यह कि तीसरे पहर मैं स्पेशल वार्ड में आ गया। वह एक बेड का स्वतन्त्र कमरा था। और दोनों ओर दर्वाज़ों से बराबर के कमरों से जुड़ा हुआ था। बाँई ओर बीऽट्रिस का दफ़्तर था।

मैं उस समय अपने को नहीं जानता था। मुझ में गुस्सा

भी था और बहुत नीचे उस गुस्से की जड़ें ढीली भी हो रही थीं। अर्थात् वह आदत का, प्रतिक्रिया का, रोब था जो जल्दी से जल्दी निकलकर अपने को चुका डालना चाहता था। अन्यथा दूसरी तरह मैं अपने व्यवहार की व्याख्या नहीं कर सकता।

इस कमरे में आकर डाक्टरों की निगाह में मैं कुछ दूसरा ही मरीज़ हो गया था। झींकता और चिल्लाता भी था। ड्रेसिंग के वक्त ज़रा-ज़रा दर्द पर आवाज़ करता और हाथ बढ़ाकर डाक्टर या नर्स के हाथ को झटका देकर अलग कर देने की कोशिश तक कर बैठता था। ड्रेसिंग के वक्त इस लिये दो-तीन आदमी मेरे हाथ-पाँव पकड़ रखने के लिये ज़रूरी हो गये थे। यह तब जबकि जख्म काफ़ी भर आया था और अन्दाज़ था कि पन्द्रह-बीस रोज़ में स्वस्थ होकर अस्पताल से चला जा सकूँगा।

खास कर सिस्टर से मेरी नहीं बनती थी। एक बार तो उसके हाथ से छीन कर खुला थर्मामीटर मैंने फ़र्श पर फेंक पटका। वह टूटकर चूर-चूर हो गया। सिस्टर जब आती, उसके साथ मेरी बकझक हो जाती। दफ्तर जो उसका बराबर था इससे नर्स कम और सिस्टर ही अधिक आया करती थी। दवा तक अधिकाँश वही पिलाती थी। निर्णयों में मैं कभी किसी तरह का फेर नहीं ला पाता था। मीठा टॉनिक मिला। इस कमरे में आ गया और उसके बाद मुझ से बिना पूछे जो निर्णय किये गये, मेरे सब विरोध के बावजूद उनका पूरी तरह पालन हुआ। मुझे झींक इस बात की थी कि उन सब निर्णयों में मेरी सुविधा और आराम का ही विचार

प्रधान था। यह बात मुझे एक दम असह्य हो आती थी। यह और भी असह्य था कि मैं क्रोध करता हूँ और बीऽट्रिस एक का भी उत्तर नहीं देती। उसकी आवाज़ ज़रा भी ऊँची नहीं होती, उलटे मेरे आराम के नए नए ढँग रचती रहती है।

मेरी ज़िन्दगी और आदर्श पर गढ़ी थी। मैं अपने में पूर्ण वृत्त की भाँति रहता आया था। आत्म-निर्भर था और किसी को अपने ऊपर, ज़िन्दगी के साथ शामिल न होने देता था। पत्नी भी अलग थी; बच्चे भी अलग थे। दुनियाँ के सब लोग अलग थे और असंख्य पुरुषों के इस जगत में मैं अकेला था। अकेले रहने का आदी हो गया था। इस आदत और विश्वास के बल पर मेरी उन्नति की गति तीव्र होती चली गयी। मामूली हवलदार से शुरू होकर तब ४२ वर्ष की अवस्था में मैं मेजर था। मेजर ही न था, लोगों की निगाहों में मैं उससे भी महत्वपूर्ण था। समझा जाता था कि मेरी तरक्की का कोई अन्त नहीं है। और मैं जहाँ तक न पहुँचूँ, थोड़ा है; ऐसी साथियों को मेरे सम्बन्ध में धारणा थी।

लेकिन अस्पताल के अन्तिम दिनों में लोगों की आशायें मुझ से टूटने लगीं। मैं अन्दर से कमज़ोर दिख आया। मामूली रोगी की तरह रोता, झींकता, जिद करता; हाथ-पैर पटकता, उन्हों ने मुझे देखा और देखा कि अपने पर मेरा काबू प्रकृत नहीं है।

अचरज यह कि मेरी स्वयम् की सम्मति अपने बारे में गिरती जाती थी। दूसरे मुझे क्या समझते हैं—यह बात पहले मुझे इतना परेशान न रखती थी। मैं अत्यन्त विश्वस्त था और

लोगों को मुझे ऊँचा ही समझना पड़ता था। अब अपने सम्बन्ध में मेरी निगाह औरों के साथ चलने को लाचार हो रही थी। इस सबब से मुझे झुँझलाहट थी; और वह बीऽट्रिस को लेकर प्रकट होती थी।

बीऽट्रिस ने कहा—"आपका जख्म तेज़ी से भर रहा है। बाहर आपके लिये तीन साल की आराम की छुट्टी का हुक्म आ गया है। इस ख़बर पर ज़रूर आप को मुझे 'थैंक्यू' कहना चाहिए।"

मैंने कहा—"थैंक्यू"

"आज से आप पैरों से टहल भी सकते हैं। कुर्सी से आप को नफ़रत थी ही। अब—"

मैंने कहा—"दवा मैंने पी ली। कुछ और बाकी है?"

कुर्सी खींची और उस पर बैठती हुई बोली—"हाँ, बहुत बाकी है।...तुम इतने चिढ़े क्यों हो?"

मैंने कहा—"यही बात है, तो हो गई। मुझे रहने दो।'

कुर्सी और पास सरका कर हाथ बढ़ाकर मेरे माथे पर रखा। कहा—"बहुत थक गये हो?"

मैंने उलटी तरफ़ करवट ले ली और कुछ नहीं बोला। आज मुझे अचरज है कि तब रूठे बालक की तरह व्यवहार करने में मुझे क्यों लज्जा नहीं हुई?

करवट मैं पूरी तरह नहीं ले सकता था, लेकिन करवट के लिये तो मुझे करवट लेनी न थी।

"ज़िन्दगी से ही थक गये हो! पर अभी तो तुम्हें बहुत

करना है। युग-युग रहना है। सुनो, इधर देखो—"

... माता बालक को किस भाँति मनाती है, यह बचपन म अनुभव में आया होगा। लेकिन उस समय वह माता ही मालूम हुई। उस की उम्र मुश्किल से तीस वर्ष होगी। पर फिर भी स्वर में क्या बात कहाँ से आ गई कि मेरा अभिमान भीतर से व्यर्थ होता हुआ गलने लगा, यह कह नहीं सकता। अपने को छीलने की आदत मुझे बिलकुल न थी। स्त्रियों को काबू में ही करता आया हूँ। लेकिन इधर आकर मैं एक विलक्षण विवशता अनुभव कर रहा था, और विवशता में सुख।

"देखो, इधर देखो, रघु !"

मैंने स्पष्ट रूठी आवाज़ में कहा—"हटो, रहने दो।"

इस पर उसने दूसरा हाथ बढ़ाया। और दोनों के बीच मेरी कनपटियों को थाम कर सीधा कर दिया। बड़े मृदु भाव से कहा—"गोरी हूँ, इससे मुझ से नफ़रत करते हो ?"

मैंने कहना चाहा कि 'हाँ' लेकिन कुछ कहा नहीं, अपनी आँखों के सामने टँगे चार्ट पर निगाह जमाये रहा।

उसने हाथ खींच लिये और बोली—"नफ़रत अच्छी चीज़ नहीं है, रघु। उस से दिल सख्त होता है। वह भीतर से हमें खाती है। दुनिया में बहुत नफ़रत है, और लड़ाई है। हम-तुम में लड़ाई है। मैं अंग्रेज़ हूँ, तुम हिन्दुस्तानी हो। दोनों यह बात याद रखते हैं। और नफ़रत में जीना चाहते हैं। पर हमारे ही अन्दर का मन उस नफ़रत को नहीं चाहता। उस अपनी अन्दर की सचाई को हम

दबाते हैं। और नफ़रत सीखना चाहते हैं। तुम, रघु, ऐसी ही कोशिश कर रहे हो। पर तुम मुझे नफ़रत नहीं कर सकते। करना चाहते हो, पर नहीं कर सकते। मैं बीऽट्रिस हूँ, तुम रघु हो। हर घड़ी बार-बार अपने को हम कितना भी याद दिलायें कि तुम हिन्दुस्तानी या मैं अंग्रेज़ हूँ तो भी अन्दर की यह बात ऊपर आ ही जायगी कि हम दोनों दो इन्सान हैं। तुम रघु हो; मैं बीऽट्रिस—यह क्या, रोते हो?"

मैं ने बीऽट्रिस की तरफ़ नहीं देखा। आँसू भी नहीं पोंछे। मैं सामने ही बिना इधर-उधर देखे टक बाँध चार्ट को देखता रहा। आँसू थे, फिर भी मानों मैं बहना नहीं चाह रहा था।

"छिः रोने की क्या बात है? पर रोना अच्छा है, रघु। मुझे बहुत रोना पड़ा है। उस से बड़ा लाभ हुआ है। उस में मेरा सब मान गल कर बह गया है।—तुम्हें मैं अपना परिचय देना चाहती थी। तुम झिड़कते रहे, टालते रहे। पर मैं भी दुखिया हूँ, रघु। लोग समझते हैं— लार्ड की बेटी हूँ। हूँ; पर अकेली हूँ। अकेले थी; सब थे, पर कोई न था। मैं अपने दर्प में बन्द थी। फिर क्या हुआ, सुनोगे?"

इस समय अनजाने मेरा हाथ टटोलता-टटोलता बीऽट्रिस के हाथ तक जा पहुँचा था। मेरी उँगलियों के सिरे उस की उँगलियों को छूते हुए वहाँ रक्खे थे। अब मैंने उस हाथ को खींचकर अपनी आँखों पर लिया। उसी से आँसू पोंछे और फिर इस हाथ को अपने दोनों हाथों से थामकर तनिक उसकी ओर करवट लेकर कहा—

"सुनूँगा बीऽट्रिस, सुनाओ !"

बीऽट्रिस करुण मुस्कराहट से मेरी ओर देखकर बोली,—"उसे जाने दो।—पर एक वर्ष से इस अस्पताल में आ गयी हूँ, और अब मैं अकेली नहीं हूँ। अपने यीशु को साथ ले लिया है। तुम जानते ही हो कि इकलेपन का त्रास आदमी को कितना प्यारा हो जाता है। अस्पताल से पहले मैं एक मठ में थी। अपना दुख लेकर सोचती थी कि भगवान के भजन में रहूँगी, बाहर का कोई सम्पर्क नहीं रखूँगी। मठ में एक कोठरी में पूरे एक साल बन्द रही। हर पल भगवान का ध्यान रखती थी। पर मेरा इकलापन मुझ से नहीं गया, रघु, मेरी पवित्रता की ख्याति हुई। पर ख्याति ने मुझे और इकला कर दिया। तब मठ छोड़ कर मैंने नर्स का काम सीखा। लार्ड की लड़की उस पवित्रात्मा बीऽट्रिस को छुट्टी दे कर नर्स बन कर मैं रोगियों की सेवा में आ गयी। तब से रघु मैं अकेली नहीं हूँ। सब मेरे हैं। रघु, अभिमान में हम अकेले हैं। आँसू से अभिमान कटता है। अरे, लो, तुम फिर रो रहे हो !"

मेरी आँखों में फिर आँसू डबडबा आये थे। अपने हाथों में पड़े, उसके हाथों को खींच कर मैं ने अपनी कनपटी के नीचे रख लिया और धीमे से कहा—"बीऽट्रस" !

हाथ खींचने में वह कुर्सी से काफ़ी अधिक झुक आई; बोली—"यह क्या करते हो ?—तुम कमज़ोर हो !"

सुन कर मैं ने दूसरे हाथ को पकड़ने के लिये अपनी बाँह बढ़ायी। बीऽट्रिस हँसती सी बोली—"यह क्या पागलपन है, रघु ?"

मैं ने मुँह से कुछ नहीं कहा। आँख के मेरे आँसू सूख गये। मैंने ज़रा आगे को सरक कर अपनी बाँह को आगे को और बढ़ाया।—

"यह क्या कर रहे हो, रघु ? पता नहीं ऐसे तुम्हें सरकना नहीं चाहिये। तो लो, मैं यहीं बैठ जाती हूँ।"

सिरहाने बैठी हुई बीऽट्रिस का दूसरा हाथ मैं खींच कर मुँह तक लाया। और हलके से चूम लिया।

बीऽट्रिस शान्त मुस्कराहट से बोली—"रघु, पागल हो रहे हो! मुझे अब जाने दो।"

वह दिन रोज़-रोज़ नज़दीक आ रहा था। मेरी कुछ समझ न आता था। जैसे होनहार स्वयम् हमारे ही द्वारा ऐसे अचूक और अनायास भाव से होता रहता है कि हम स्वयम् ही उस के साधन होते और स्वयम् ही अपने को विवश अनुभव करते हैं। मैं जानता था कि मैं हिन्दुस्तान जा रहा हूँ। और यह भी जानता था कि न जाऊँ तो मुझे वहाँ कोई भेजने वाला नहीं है। फिर भी जैसे मैं अपनी इच्छा या वश से नहीं जा रहा था। जैसे मेरी जगह कोई और 'मैं' जा रहा हो। मैंने कहा—"बीऽट्रिस"। और आगे मुझ से कहा नहीं गया। इस वक्त अपने कमरे में आराम-कुर्सी पर लेटा था और वह बराबर स्टूल पर बैठी थी।

बोली—"कितने वर्षों में घर लौट रहे हो? बड़े खुश होगे? और मुझे भी बड़ी खुशी है।"

मैं सिगार पीता रहा और कुछ नहीं बोला।

बीऽट्रिस हँस कर बोली—"अब आगे अँग्रेज़ों की नौकरी न करना। न उनसे नफ़रत करना।"

मैं अपने ही ख़याल में था। ऐसे चुप रहते शायद मुझे देर हो गई। बीऽट्रिस ने कहा—"क्या सोच रहे हो?

मैंने उधर मुड़ कर देखा। कहा—"बीऽट्रिस, तुमने मुझे क्यों अच्छा किया?

बीऽट्रिस क्षीण मुस्कराहट से मुझे देखती रही। मैं अपने ही ज़ोर में कहता गया—"मुझ से यह दुश्मनी तुमने क्यों की? और क्या मैं अच्छा हूँ? अच्छा कह कर तुम मुझे छोड़ना क्यों चाहती हो, बीऽट्रिस?"

बीऽट्रिस ने कहा—"तुम्हारा घर हिन्दुस्तान है। मुझे खुशी है कि अब तुम घर जाने लायक हो। अब पागल मत बनो।"

मैं ने स्टूल पर बैठी-बैठी ही का हाथ पकड़ कर अपनी तरफ़ खींच लिया। वह आकर मेरी गोद में गिरने-गिरने से बची।

मैं स्वयम् उस हाथ का चुम्बन लेकर सहम गया। मैंने तत्काल हाथ छोड़ दिया। मेरी आँखें निराश थीं और उन में प्रार्थना शेष थी।

बीऽट्रिस खड़ी हो गयी। मेरी ओर देखकर जैसे उस में करुणा का ज्वार आ गया। जल्दी से बोली—"देखो न, कितने कमज़ोर हो गये हो! उत्तेजना ऐसे समय नुक्सान पहुँचायेगी।"

मैंने अवश भाव से कहा—"बीऽट्रिस!"

तब उसने झुककर, हँसकर धीमे से मेरा हाथ दबाया।

कहा—"फिर आऊँगी" और चली गई।

इस के बाद से मेरी हालत कुछ और ही हो गयी थी। मुझे सहिष्णुता की, धैर्य की, संयम की आवश्यकता ही न थी। एक प्रकार के दुखमय सुख से मैं भरा रहता था। दुख उस का मैं ही जानता था, सुख उसका मेरे चेहरे पर से सब को प्राप्त होता था। ड्रेसिंग के समय या और समय नर्स-डाक्टरों के समक्ष न संयत चुप रहता था, न दर्द की शिकायत करता था। बल्कि हँस-खुलकर बात कर सकता था और दर्द होता था, तब भी हँस कर ही दर्द का उन्हें उलाहना देता था।

वह अनुभव मेरे जीवन में विलक्षण है। बीऽट्रिस अब सवेरे एक बार ही मेरे पास आती। कहती कि तुम तो अच्छे हो रहे हो। अब मुझे सवेरे आने की भी ज़रूरत नहीं है। मैं चुपचाप उसे देखता हुआ पड़ा रहता था। लेकिन वह भेंट मेरे लिये इतनी काफ़ी थी कि ऐसा लगता कि मैं कुछ और नहीं चाहता और अगले सवेरे तक मैं प्रसन्न और शान्त रहता।

अब अस्पताल से छुट्टी मिलने में दो दिन रह गये थे। हिन्दुस्तान जाने का मेरा प्रबन्ध हो गया था। एक हफ्ते अस्पताल से निकल कर मुझे बाहर रहना था; फिर जहाज़ से रवाना हो जाना था।

बोली—"यह क्या है, रघु?"

मैं उस समय एक साथ साहसी और कातर बन आया। बिना हाथ छोड़े कहा—"तुम यहाँ मेरे पास कुर्सी की बाँह पर आ बैठो!"

वह वहाँ बैठ गयी। बोली, "क्या है रघु ? तुम अशान्त क्यों हो रहे हो ? मैं बैठी तो हूँ ?"

उस समय शब्द बेकार हो गये । और मैं उसका हाथ अपने हाथों में लिये बिना बोले बीऽट्रिस को देखने लगा। उसकी आँखों में तिरस्कार नहीं; धिक्कार नहीं, एक स्निग्ध करुणा थी। क्षण भर इस तरह देखते रहकर मैं ने झटके से उसे अपने ऊपर गिरा लिया।

वह बोली—हैं—हैं, तुम अभी कमज़ोर हो।"

मैं ने कहा—"बीऽट्रिस !"

वह अपने को अलग करके खड़ी हो चुकी थी।

बोली—"रघु, तुम बच्चे हो ! ख़याल करो कि तुम कितने कमज़ोर हो !" कह कर जाने लगी।

मैंने कहा—"मुझे माफ़ करना, बीऽट्रिस।"

चलती-चलती बोली—"क्यों रघु, नाराज़ हो गए ?"

मैंने कहा—"नहीं, मेरी धृष्टता को भूल जाना !"

उस समय बीऽट्रिस ने इस दृष्टि से मुझे देखा कि मैं जन्म-जन्म तक बिसार नहीं सकता। उसी के कारण कह रहा हूँ कि उसकी सी पवित्रात्मा दूसरी होगी, इसका मुझे विश्वास नहीं है।

क्या उसकी आँखों में आँसू थे ? पर वह मुस्करा रही थी। उस चेहरे पर अपार करुणा थी, बोली—रघु, अभी कितने कमज़ोर हो, अधीर न होओ।"

मैं फिर दो दिन तक शान्त भाव से अपने कमरे में रहा।

सब से हँसता बोलता था । बीऽट्रिस दोनों दिन मेरे पास नहीं आयी । अब मैं स्वतन्त्र था । वार्ड में घूम-फिर सकता था । और दवा का क्रम यद्यपि जारी था, पर विशेष पाबन्दी न थी । सिस्टर बीऽट्रिस का दरवाज़ा अब दूसरी तरफ़ से बन्द ही रहता था ।

अगले सवेरे मुझे जाना था । शाम के वक्त बगीचे में मैं घूम-फिर आया । अब आराम-कुर्सी पर लेटा कुछ पढ़ रहा था । उसी समय बीऽट्रिस आई ।

मैंने कहा—"बीऽट्रिस, अब तुम आई ? आख़िर क्यों आयी ?"

"रघु, तुम नाराज़ हो ? सवेरे तो जा रहे हो, नाराज़ी में जाओगे ? मेरी अंग्रेज़ जाति से तुम नाराज़ होकर न जाने पाओगे, रघु । इसके लिए समय निकाल कर मैं आ रही हूँ ।"

मैंने कहा—"समय निकाल कर ? अत्यन्त धन्यवाद ।"

"लेकिन रघु, तुम तो, अच्छे हो । मेरा समय रोगियों का है । मेरा वह अपना तक भी तो नहीं है । तुम मुझे माफ़ नहीं कर सकोगे ?"

मैंने कहा—"कल सवेरे तक न आती तो कुछ बुराई न थी, बीऽट्रिस ! मैं अच्छा तो हो ही गया हूँ ।"

बोली—"रघु, तुम कठिन हो । अपने साथ अन्याय न करो । तुम कठिन नहीं हो; नहीं होना चाहिये ।—मैं आ तो गयी हूँ ।"

मैंने हँस कर कहा—"मैं अच्छा हूँ; तुमने मुझे अच्छा किया है !......कौन कहता है कि मैं अच्छा हूँ । तुम भूल में हो,

बीऽट्रिस। जख्म लेकर ज़रूर मैं बीमार नहीं हूँ। पर अब तो ऐसी हालत है कि अस्पताल में भी मुझे जगह नहीं है।"

वह कुर्सी की बाँह पर आकर बैठ गयी। किताब मेरे हाथ से लेकर बन्द करके उसने एक ओर रख दी। कहा—"क्या बकते हो! किताब ने दिमाग़ तो खराब नहीं कर दिया? चलो, उठो।"

उठ कर वह मुझे बाहर की ओर ले चली। मैंने कहा—"कहाँ चल रही हो?"

बोली, "इतनी सरदी नहीं है, अभी खुले में घूम सकते हो!"

मैंने कहा—"बीऽट्रिस एक बात मानोगी? सिनेमा चल सकोगी?"

अचरज में भर कर वह एकाएक बोली—"सिनेमा!"

मैंने कहा—"मैं कल जा रहा हूँ, बीऽट्रिस! और हमेशा से ज़्यादा बीमार हूँ। अच्छा हूँ, इसी आधार पर तुम मुझे छोड़ सकती थीं। बीमार को कैसे छोड़ सकती हो?"

बोली—"सिनेमा! लेकिन अस्पताल के मरीज़ तो रात को कोई बाहर नहीं जा सकते? और मैं तो सिनेमा जाती नहीं!"

मैंने कहा—"तो जाने दो, बीऽट्रिस।"

कहकर मैंने अपनी निराशा को अन्दर ही पी लिया, और चुप हो रहा। कुछ अनन्तर आप ही वह बोली—"लौटते समय यहाँ का फाटक जो बन्द हो जायगा।"

"कहता तो हूँ, बीऽट्रिस, जाने दो।"

बोली—"हाँ, जाने दो। मेरी भी रुचि नहीं है।"

उसके बाद मैं कुछ नहीं बोला। नीचे लान में आकर हम टहलते रहे। तब से एक शब्द मैंने मुँह से नहीं निकाला। वह भी चुप रही। उसने मेरा हाथ अपने हाथ में ले रखा था। मेरे हाथ की उँगलियाँ निर्जीव-सी वहाँ लटकी हुई थीं। इस तरह चुपचाप दसेक मिनट हम घूमते रहे। एकाएक वह बोली—"सिनेमा ज़रूर ही देखना चाहते हो? कल तो बाहर होगे! चाहे जितना देख लेना।"

मैंने कहा—"बीऽट्रिस, छोड़ो सिनेमा, छोड़ो मुझे। जाकर सो जाओ।"

कुछ देर मेरा उत्तर लेकर जैसे वह सोचती रही।—

"तो आओ, मेरे साथ आओ!"

अपने क्वार्टर में मुझे वह ले गई। सेविका को वार्ड में एक चिट् दे आने को कहा। फिर अपने घर पर ही उसने मुझे भोजन कराया। टेलीफ़ोन से सीट और रात के लिये वहीं बेड्स का तय किया और अपने क्वार्टर के पिछवाड़े के रास्ते से हम लोग सिनेमा चले गये।

सवेरे मैं अस्पताल चला गया। वहाँ से छुट्टी पाकर होटल में डेरा डाला। जहाज़ चलने में सात दिन थे। चौथे रोज़ से पहले बीऽट्रिस होटल के कमरे में न आ सकी। बोली, "रघु, तुम पागल हो। ऐसी चिट्ठियाँ भेजते हैं? और दिन में कई? लो, मैं आगई!"

मैंने कहा—"इतने दिन कहाँ लगाये, बीऽट्रिस?"

बोली—"अब भी कुछ ही मिनट ठहर सकूँगी, रघु!"

मैंने उसके दाँये हाथ को दोनों हाथों में दबा लिया। वह कुर्सी के बराबर खड़ी थी। मैंने कहा—बीऽट्रिस, मेरा अब क्या होगा ? तुम साथ नहीं दे सकोगी ?......बीऽट्रिस, बीऽट्रिस, हम चर्च में नहीं चल सकते ?"

बीऽट्रिस बोली—"तुम बहुत इकले, बहुत दुखी हो, रघु। मैं जानती हूँ।"

"हाँ, बहुत दुखी हूँ, बीऽट्रिस !"

"मैं दुख की ही हूँ, रघु, शायद तुम्हें सुखी भी कर सकूँ। "चाहती भी हूँ।"

मैंने उसे खींच कर पास बिठा लिया। कहा—"फिर क्या है, बीऽट्रिस ? मेरा सब तुम्हारा है। धर्म से कहता हूँ, तुम्हीं मेरी सब हो।"

उसकी आँखों में उस समय मैंने परिपूर्ण प्रेम देखा। पर उस पर शान्ति थी। व्यथा भी थी। बोली-"रघु, मैं चल सकती तो ज़रूर चलती ! सोचो, मैंने क्या तुम से बचाया ? तुम्हारा दुख पाना मेरे लिये छोटी प्राप्ति न थी। लेकिन रघु, समझो। तुम्हीं सोचो, अस्पताल में और जो मरीज़ हैं—?"

मैं सुनकर उसकी ओर देखता रह गया। यह स्त्री क्या कह रही है ? क्या उसका अर्थ है ? क्या वह ऐसी निर्लज्जता के साथ पुंश्चली है ? कह नहीं सकता कि उस समय कैसा कठोर भाव मुझ पर छा गया। सुनता हुआ मैं एक ही साथ जड़ीभूत हो गया।

अत्यन्त स्नेहपूर्ण दृष्टि से मुझे देखती हुई वह बोली—"रघु,

तुम ही सोचो, अस्पताल में और मरीज़ नहीं हैं? और वे मेरी राह देखते होंगे।"

मैं सुनकर विमूढ़-सा बैठा रहा।

बोली—"अंग्रेज़ से तुम अब घृणा न करोगे, रघु। यह मुझे कहते जाओ। अब मैं जाऊँगी, भगवान तुम्हें सदा सुखी रखे।"

कह कर मेरा हाथ लेकर उसने चूमा, और कहा—"मुझे घृणा तो नहीं करते?"

मैं गुमसुम बैठा रहा। निश्चलभाव से हँसकर उसने कहा—"नहीं, तुम घृणा नहीं कर सकते, मैं जानती हूँ। कहो, किसी भी अँग्रेज़ से नफ़रत नहीं करोगे, रघु। कहो!"

मैं सुनता हुआ, सब पीता गया। मुझ से और न सहा गया। डर कर, कमरे का दरवाज़ा खोल कर उसे दिखाते हुए मैंने कहा—"सिस्टर बीऽट्रिस, अब तुम जा सकती हो।"

मेरा यह भाव देखकर सहसा उसकी आँखों में आँसू छल-छला आये। लेकिन मैंने ठँडे लहज़े में दोहराया—"यह रास्ता है, तुम अब जा सकती हो।"

वह क्षण भर उभरी आँखों से ठिठकी-सी मुझे देखती रही। मैंने कहा—"मुझे फिर दरवाज़ा बन्द करना है।"

इस पर बिना और कुछ कहे, वह चुपचाप दरवाज़े से बाहर चली गई।

कह कर मेजर, जैसे किसी ने मुँह सी दिया हो, एकाएक निर्वाक् हो रहे। मानों उन में सब गति तब निस्पन्द हो आई। अन-

न्तर मानों जगकर खिन्न वाणी से बोले:—रायसाहब, और डाक्टर साहब ! इसी लिये मैं कहता हूँ कि शरीर-सम्बन्ध कुछ नहीं है। मैं आपकी सी धारणा में पला था। इसी से न, अपनी ज़िन्दगी का सब से बड़ा पाप मैंने यह किया कि उसका अपमान किया। लेकिन जिन सम्माननियों को मैं जानता हूँ, उस में किसी से भी कम सम्माननीय वह नहीं है—यह निश्चय है।

रत्न-प्रभा

प्रातः ब्राह्मबेला से इस नगरी में जमुना-स्नानार्थियों का ताँता लग जाता है। उनमें स्त्रियों की संख्या ज़्यादा होती है। पैदल, इकली, यूथों में, सब प्रकार के वाहनों में, हर पद्धति-प्रकार और वय की स्त्रियाँ तड़के अन्धेरे से सूरज चढ़ते तक चाँदनी चौक से यमुना-घाट तक रास्ता चलती हुई देखी जा सकती हैं। यह दृश्य अति भव्य मालूम होता है।

इधर कोई एक महीने से एक बड़ी नई मोटर-गाड़ी नियत समय पर यमुना आती है। सब पहिचानते हैं कि यह गाड़ी सेठानी जी की है। प्रसिद्ध सेठ लक्ष्मीनिवास जी का हाल में तीसरा विवाह हुआ है। विवाह में परम योग्य, विदुषी, सुन्दरी पत्नी उन्हें प्राप्त हुई है। उनका नाम रत्नप्रभा है, वही नित्य-नियमित गाड़ी में आती हैं। आसपास सड़क से जाते हुए या घाट पर के लोग गाड़ी और सेठानी को देखते रह जाते हैं। उनके गौरव के प्रति सब को संभ्रम

है। वह परदा नहीं करतीं। रूप अनिंद्य सुन्दर है। मर्यादा की शुचिता व्यवहार में परिलक्षित होती है, देह पर आभूषण नहीं देखने में आते। लकीर-सी बारीक चूड़ियाँ ही कलाई में देखी जा सकती हैं। सदा कच्चे दूध की नाईं सफ़ेद और स्वच्छ वस्त्र पहिने रहती हैं। साथ नियम से कुन्द पुष्पों के दो दोने साथ लाती हैं। एक यमुना को भेंट करतीं और दूसरा भगवान् को चढ़ाती हैं। यमुना में वह स्नान नहीं करतीं; जल ले कर नेत्रों से और मस्तक से लगातीं, फिर आचमन करतीं, अनन्तर यमुना माता को प्रणाम करके एक अलग निश्चित स्थान में जप करती हैं। पश्चात् भगवान् के दर्शन कर वापस आ जाती हैं। उनके व्यक्तित्व की शालीनता और आभिजात्य से आसपास का वातावरण भर कर उन्नत होता हुआ मालूम होता है।

एक रोज़ उन्होंने देखा कि एक लड़का रामनामी दुपट्टा कमर से बाँधे, गीत गा-गाकर किताबें बेच रहा है। रोज़ लगभग एक ही स्थान पर इसी समय यही करता हुआ वह मिलता है। देह का ऊपर का हिस्सा उसका खुला है। बीस-बाईस वर्ष का होगा। रंग श्याम है, बनावट सुन्दर। बाल बड़े और घुँघराले हैं। स्मश्रु चेहरे पर फूट ही रहे हैं।

धीरे-धीरे करके मोटर से जाते हुए सेठानी ने यह सब देखा। यह भी देखा कि मोटर पास से निकलती, तो ऊपर को मुँह उठा कर वह इसी तरफ़ देखने लगता है।

रत्नप्रभा अपनी ओर लोगों को देखते हुए पाने की आदी

है। फिर भी बिना देखे वह देखने लगी कि इस लड़के की निगाह मोटर की तरफ़ और स्वयं उसकी तरफ़ जैसे एक ही से भाव से उठती है। मानो मोटर की भाँति वह भी पदार्थ हो।

रत्नप्रभा ने एक दो-बार उसकी ओर देखा भी। औरों की तरह इस पर उसकी निगाह नीचे नहीं आई। वह किशोर उसी भाँति टकटकी लगा कर देखता रहा।

यह घाट के पास की ही बात है। मोटर वहाँ धीमी चलती है। भीड़ रहती है और रास्ता तंग है। मोटर अनायास रुकी तो उसने शोफ़र से कहा—"वह किताब बेचता है न लड़का, उसे बुलाना।" बुलाने पर लड़का आकर खड़ा हो गया। उसके हाथ में किताबें थीं। मोटर में ही से रत्नप्रभा ने पूछा—"क्या है ?"

"किताबें हैं। लीजिएगा ?"

रत्नप्रभा ने कहा—"किताबों की बात नहीं, ठीक तरह तुम अपना काम क्यों नहीं करते हो ?"

लड़का इस बात को बिना कुछ समझे निरुत्तर खड़ा रह गया।

"निगाह नीची रखा करो। सुना ? जाओ।...चलाओ जी।"

मोटर चली गई और लड़का खड़ा रह गया। फिर वह भी अपनी जगह लौट आया।

लेकिन देखा गया कि मोटर निकलती है तो उसकी आँखें उसी तरह उठ जाती हैं। वह निगाह बाँध कर देखता रहता है! उस दृष्टि में आश्चर्य बहुत होता है।

दो-तीन रोज़ बाद मोटर रोक कर रत्नप्रभा ने फिर उसे बुलाया। कहा—"क्या बेचते हो ?"

"किताबें हैं। हनुमानचालीसा, स्त्री-सुबोधिनी, तोता-मैना, छबीली भटियारी—चाहिए ?"

रत्नप्रभा को बहुत बुरा मालूम हुआ। कहा—"ये गन्दी किताबें क्यों बेचते हो ?"

"बिकती हैं, सो बेचता हूँ। मेरे पास वह भी है...चाहिए ?"

"क्या है ?"

धीमे से लड़के ने कहा—"कोक-शास्त्र—दूँ ?"

रत्नप्रभा के कर्णमूल लाल हो गये। शोफ़र से बोली—"चलाओ।"

गाड़ी लड़के को वहीं छोड़ कर चल दी।

किन्तु फिर देखा कि लड़का उसको और उसकी गाड़ी को उसी तरह निर्भीक, निर्लज्ज, उत्सुक और चकित दृष्टि से देखता हुआ खड़ा रह जाता है। उस ओर देखती है तो भी वह देखता रहता है। दृष्टि में अपेक्षा नहीं है, विस्मय है—केवल विस्मय, अपार विस्मय।

उस निरपेक्षता से लाचार होकर फिर रत्नप्रभा ने मोटर रुकाई। बुलाया और पूछा—"तुम इसमें क्या पैदा कर लेते हो ?"

उसने उत्तर दिया—"धेली, बारह आना—"

रत्नप्रभा ने कहा—"गन्दी किताबें न बेचो तो न चले ?"

लड़के ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

रत्नप्रभा गुस्से में भर आई। बोली—"वहां किताब कितनी हैं ?"

"कोकशास्त्र ?—पाँच।"

"कितने में देते हो ?"

"दो-दो में।"

"जाओ तो, पाँचों ले आओ।—बदमाश !"

लड़का पाँचों पुस्तकें ले आया। शोफ़र ने उन्हें ले लिया। रत्नप्रभा ने दस रुपये का नोट उसकी तरफ फेंक दिया। कहा—"ख़बरदार, अब आयन्दा मत बेचना।"

यह कह कर एक दूसरा दस रुपये का नोट भी उस पर फेंक दिया।

उस से पहले ही हुक्म पाकर मोटर चल दी और हवा में उड़ता हुआ वह दूसरा नोट लड़के ने पकड़ा।

किन्तु उस में अन्तर नहीं आया। उस की निगाह वही थी और जगह भी वही। वह निगाह झुकने को तय्यार न थी। उस में न कृतज्ञता थी, न आतंक। उस में शिष्टता तक न थी।

गाड़ी को रोक कर इस बार फिर बुलाया। कहा—"अब क्या बेचते हो ?"

बोला—"जो कहिए। हनुमान-चालीसा, तोता-मैना, एक रात में..."

"वह वाली किताब है ?"

"है—लाऊँ !"

रत्नप्रभा ने गुस्से में आ कर कहा—"ऐसे तुम बाज़ नहीं

आओगे। पुलिस की मार से तुम ठीक होगे।"

वह सुनता हुआ चुप खड़ा रहा, कुछ भी नहीं बोला। इस की निगाह ठीक वहीं थी। रत्नप्रभा ने कहा—"कुल कितने की किताबें तुम्हारे पास हैं?"

"बीस रुपये की।"

रत्नप्रभा ने कहा—"यह लो पच्चीस और सब यहाँ पटक जाओ। फिर ख़बरदार जो तुमने यह काम किया!"

लड़का गया, किताबें ले आया, मोटर में उँड़ेल दीं और पच्चीस ले लिये।

रत्नप्रभा ने कहा—"समझे? अब यह काम न करना। खोमचा लगाओ, कुछ और करो। इस में अब तुम्हें देखा तो—चलाओ जी!"

पर दो-एक रोज़ के अन्तर से वह लड़का उसी तरह किताबें फैलाये, वहीं खड़ा रत्नप्रभा की जाती हुई मोटर की ओर देखता हुआ दिखाई दिया। उस दिन तो ख़ैर वह निकल गई। पर अगले दिन उस को बुला कर उसने डाटा और पूछा कि यह स्टाक कितने का है। पन्द्रह कहने पर उसे पन्द्रह निकाल कर दे दिये, फिर पास रखा बेत शोफ़र की तरफ फेंक कर कहा—"इस की ज़रा मरम्मत तो कर देना।"

शोफर ने बेत लेकर पाँच-सात ज़ोर से उस लड़के के जड़ दिये। लड़का उसी निगाह से रत्नप्रभा को देखता हुआ बिना कुछ कहे चुपचाप पिटता रहा। आस पास लोग घिर आये। वे तो सदा

ही घिर आते थे। पर उनकी तरफ़ न रत्नप्रभा का ध्यान था, न लड़के का। रत्नप्रभा ने कहा—"क्यों, अब तो न करोगे ?"

लड़का चुपचाप उसी निगाह से देखता हुआ खड़ा रहा। रत्नप्रभा ने कहा—"दो-चार और तो जमाना। अभी इसे अक़ल नहीं आई !"

शोफर ने आज्ञा का पालन किया। और वह लड़के की धृष्ट निगाह की तरफ़ देखती रही। उस में कोई दया की अपेक्षा नहीं थी।

देखते-देखते बेसब्री से बीच में रोककर रत्नप्रभा ने कहा—"बस रहने दो, अब इसे अक़ल आ गई होगी।"

लड़का उसी तरह खड़ा रहा। आँखें उसकी बड़ी-बड़ी थीं और उस में डोरे थे। उन में मानो समझ न हो, जाने क्या हो। पर न वे आँखें भीगीं; न गुस्से में तेज़ हुईं। वह उसी भाँति स्थिर, विस्मय और अनपेक्षा से देखती रहीं।

रत्नप्रभा ने झटक कर शोफर से कहा—"गठरी में से किताबें अपने पास डाल लो और चलो।" और मोटर चल दी।

उस के बाद दो-तीन चार-सात रोज़ तक वह लड़का फिर दिखाई नहीं दिया। एक तरह इन दिनों में रत्नप्रभा निश्चिन्त थी। सात रोज़ के बाद क्या देखती है कि वह लड़का खड़ा नहीं है, न कुछ बेच रहा है, बल्कि बैठा हुआ है और डफली बजा कर भजन गा रहा है।

उसे और उस की मोटर को देख कर वह चुप हो गया। मोटर निकल गई, तो वह फिर गाने लगा। आवाज़ उसकी अच्छी

है, लोचदार। कण्ठ सुरीला है। गाता है तो ध्वनि काँपती-सी निकलती है, जैसे मन को पकड़ती हो। वह गाता अच्छा है, यह उस के मुँह से भक्ति के पद सुन कर ही रत्नप्रभा को मालूम हुआ। मानो बिना सुने वह सुनती थी। आज यमुना पहुँची तो उस भिखारी का वह पद, उसका स्वर, उसके मन में चक्कर काट रहा था। भगवद्दर्शन के समय वही पद उसमें घूम रहा था—'प्रभु जी मोरे अवगुन चित न धरो।'

लौट कर उधर से निकली, तो गाना फिर रुक गया। रत्नप्रभा ने मोटर रुकाली। शोफर से कहा—"जाकर कहो कि गाना रोके नहीं।"

शोफर कह कर आ गया। पर गाना आरम्भ नहीं हुआ।

रत्नप्रभा ने कहा—"जाकर कहो कि फिर पिटना चाहता है क्या? गाना जारी रखे।"

शोफर फिर कह कर लौट आया, पर गाना शुरू नहीं हुआ। इस पर तैश मे आकर रत्न-प्रभा ने कहा—"चलाओ जी गाड़ी!"

गाड़ी का सरकना था कि उसे गीत का स्वर सुनाई दिया: 'समदरसी है...'

रत्नप्रभा ने कहा, "धीमे चलाओ; देखते नहीं रास्ता खराब है?',

'समदरसी है...समदरसी है नाम तिहारो...'

मोटर में से वह यह सुनती गई और पद के इतने अंश को अपने साथ-साथ लिये घर पहुँची। सोचती जाती थी कि उसका नाम समदर्शी है। वह सब को पार कर सकता है। उसमें सब

एक हैं। एक ऊँचा है, एक नीचा है। एक सुन्दर है, एक कुरूप है। एक मोटर में है, दूसरा धरती पर है। पर उसमें सब बराबर हैं। 'ऊँच-नीच सब एक बरन भये'—वह सोचती थी, और उस लड़के का काँपता हुआ स्वर उसके भीतर घूमता हुआ लगता था—'समदरसी है नाम तिहारो......प्रभु जी मोरे अवगुन चित न धरो।'

अगले रोज़ वह वहीं था और गा रहा था। मोटर के रुकने पर वह रुक गया। आज्ञा पाकर शोफ़र उसे पास बुला लाया। रत्नप्रभा ने कहा—"क्यों जी, तुम अब क्या करते हो?"

उसने उत्तर दिया—"गाता हूँ!"

"अरे, खाने के लिये क्या करते हो?"

"भीख माँगता हूँ।"

"भीख क्यों माँगते हो?"

लड़का इसका बिना कुछ जवाब दिये खड़ा रहा।

"भीख मिल जाती है?"

लड़के ने इसका भी कोई उत्तर नहीं दिया।

"रोटी माँगते हो, या पैसों से लेके खाते हो?"

लड़का उसी तरह रत्नप्रभा को देखता हुआ खड़ा रहा। कुछ नहीं बोला।

"मुझ से भीख लोगे?"

इसका भी उसने कुछ उत्तर नहीं दिया।

आप ही रत्नप्रभा बोली—"नहीं, भीख नहीं; मैं नौकरी दे सकती हूँ। नौकरी करोगे?"

लड़के ने कहा..."करूँगा ।"

"तो गाना गाओ ।"

चारों ओर फिर तमाशा आ जुटा था। पर लड़का खड़ा रह गया । उसने गाना नहीं गाया ।

रत्नप्रभा ने कहा—"नौकरी करोगे तो गाते क्यों नहीं ?"

वह बात उसने फिर नहीं सुनी। उसी तरह रत्नप्रभा की ओर सीधा देखता हुआ वह खड़ा रहा ।

रत्नप्रभा बोली—"तो जाओ, भीख ही माँगो। तुम और किसी लायक नहीं हो ।"

शायद रत्नप्रभा को अपेक्षा थी कि लड़का चला जायगा। पर ठूँठ की नाईं, उसे वहीं खड़ा देख रत्नप्रभा ने शोफ़र को डाट कर कहा—"तुमने यहाँ क्यों गाड़ी खड़ी कर रखी है जी ? रास्ते में गाड़ी इस तरह न रोका करो !"

गाड़ी चली गई, तो लड़का भी चला गया। जाकर अपनी जगह पर पालथी मार कर बैठा हुआ गाने लगा—'म्हाने चाकर राखो जी, प्रभु जी म्हाने...'

वह स्वर वायु पर बहता हुआ रत्नप्रभा के कानों में पड़ा। वहाँ से थोड़ी ही दूर पर मन्दिर है। यमुना से लौट कर मन्दिर में दर्शनार्थ आई, तभी उसे यह पद सुन पड़ा। मानो अनुकृति में भगवान के समक्ष नमन करते हुए वह यही कहने लगी कि—हे प्रभु जी मुझे तो तुम्हीं रख लो। सेवा करूँगी, चाकरी करूँगी, मुझे और कहीं न जाने दो, अपनी शरण में ले लो !

लौटती बार मोटर सीधी चली गई, रुकी नहीं। दो-तीन दिन यही क्रम रहा। लड़का वहीं बैठा हुआ गाता मिलता। पहले रोज़ गाने में विघ्न पड़ा, दूसरे रोज़ भी; पर फिर देखने में आया कि मोटर निकल जाती है और गाना भी जारी रहता है। रत्नप्रभा ने सोचा कि क्या वह अब भी मेरी तरफ आँख उठा कर देखता है? शायद अब उसे इसका ध्यान नहीं है, या है?

इस तरह चार-पाँच रोज़ खींच कर शोफर के जरिये फिर उसे बुलाया। पूछा—"नौकरी में क्या लोगे?"

लड़के ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वह अपनी उन्हीं आँखों की उसी दृष्टि से देखता रहा।

रत्न-प्रभा ने जल्दी मचा कर पूछा—"क्यों जी, सोते कहाँ हो? कुछ और कपड़ा है कि यही है? तन रखने को भीख में मिल जाता है?"

उसने सब सवालों के उत्तर में उसी तरह देखते हुए संक्षेप में उत्तर दिया—"यहीं कहीं सो रहता हूँ।"

रत्नप्रभा ने हँस कर कहा—"कोई झाड़ू मार के निकाल तो नहीं देता?"

लड़के ने कहा—"निकाल भी देता है।" कह कर वह उसी तरह उसे देखता रहा।

रत्नप्रभा घबराई हुई बोली—"तो बताया नहीं, नौकरी में क्या लोगे?"

इस का कुछ उत्तर लड़के ने नहीं दिया।

रत्नप्रभा झल्लाई हुई बोली—"ठीक बोलो; नौकरी करोगे या नहीं करोगे ? पूछते हैं तो मिज़ाज ही आसमान पर चढ़ता जाता है।"

उस बात को लड़के ने नहीं छुआ, कहा—"करूँगा।"

और भी झल्ला कर बोली—"तो बतलाते क्यों नहीं,, क्या लोगे ?"

लड़के ने उत्तर नहीं दिया। अन्त में हार कर आप ही गुस्से में भरी हुई बोली—"कपड़ा खुराक के अलावा पन्द्रह से मैं एक ज़्यादा नहीं दूँगी। करेगा ?"

"करूँगा।

"मेरा सब काम करना होगा और बिना पूछे कहीं नहीं जाना होगा। मंजूर है ?"

लड़का चुप खड़ा रहा।

रत्नप्रभा आप ही कहती गई—"मेरा सब काम, चाहे मैं कुछ कहूँ। कपड़ा धोना, सफ़ाई करना, जूते साफ़ करना, सब काम। तेरे कोई है तो नहीं ?"

"कोई नहीं।"

"माँ-बाप, सगे-सम्बन्धी ?',

"कोई नहीं।"

"कोई कैसे नहीं है ? कहाँ का रहने वाला है ?',

लड़का चुप रह गया।

"चुप क्यों रह जाते हो जी ! तुम बोलते क्यों नहीं ?"

लड़का उसी दृष्टि से रत्नप्रभा को देखता रहा। उस में न आदर था, न तिरस्कार। क्रोध से भय न था; न सहानुभूति की अपेक्षा। जैसे वह दृष्टि निश्चेतन हो।

रत्नप्रभा ने कहा—"इन ढङ्गों नौकरी करोगे ? जाओ—अपनी भीख माँगो।"

मोटर चल दी, और लड़का अपनी जगह आ पालथी मार कर डफ़ली पर गीत गाने लगा—'ए मुसाफिर; ये दुनिया चन्द रोज़।'

घर आई तो रत्नप्रभा अपने से परेशान थी। लड़के को वह कुछ कठोर दण्ड देना चाहती थी, पर तय न कर पाती थी। अन्त में उसने शोफ़र को बुला कर आज्ञा दी कि आज शाम को पाँच बजे तक उस लड़के को यहाँ ठीक हालत में आ जाना चाहिए—ठीक कपड़े, ठीक शक्ल। साथ का सामान उस का फेंकना नहीं, लेते आना।

कहा वैसा हुआ। लड़का सभ्य वेश में रत्नप्रभा के सामने उपस्थित हुआ। इस रूप में वह बुरा नहीं लगता था।

रत्नप्रभा ने कहा—"क्यों जी, तुम्हें मालूम है, तुम कैसे दीखते हो ? लो देखो।" कह कर उसे हाथ से मोड़ कर आईने की तरफ़ सीधा कर दिया। पीछे खड़ी हो कर स्वयं देखने लगी। देखा कि लड़का स्वयं अपने बिम्ब को भी उसी दृष्टि से देख रहा है, जैसे मुझे देखता था। दृष्टि निश्चेष्ट है और निर्भाव। यह दृष्टि अपने से हट कर दर्पण में रत्नप्रभा के चेहरे की ओर आई। क्षण

भर रत्नप्रभा आशा से स्तब्ध हो रही। लेकिन देखा तो दृष्टि वही थी, जैसे पत्थर की मूर्ति देखती हो। उसमें कोई क्रिया, कोई प्रतिक्रिया न थी।

रत्नप्रभा पलंग पर आ बैठी। बोली—"उधर ही देखते रहोगे ? सुनो, इधर सुनो।"

लड़के ने उधर मुँह कर लिया।

"तुम्हें सब काम मेरे करने होंगे। नहीं मंजूर हो, तो अब भी कह दो। यह रही तुम्हारी कफ़नी और ढफली। अब भी जा सकते हो।"

सब काम करने के सम्बन्ध में लड़के ने कोई असहमति नहीं बतलाई।

"क्यों जी, बाँसुरी भी बजाते हो ?"

उसके सामान में से बाँसुरी निकाल कर रत्नप्रभा ने उसे देते हुए कहा—"लो, बजाओ तो।"

लड़का बाँसुरी हाथ में टिकाये उसी भाँति खड़ा रहा।

"विघ्न की सोचते हो ? लो, किवाड़ बन्द किये देती हूँ, अब किसी को विघ्न न होगा !"

यह कर उसने खड़े होकर बाहर जाने के दोनों दरवाजे बन्द कर दिये। कहा, "बजाओ।"

लड़का उसी भाँति खड़ा रहा, बाँसुरी मुँह पर नहीं ली।

रत्नप्रभा ने कहा—"तुमको मैं कह नहीं चुकी हूँ, नौकरी में तुम्हें मेरा सब काम करना होगा ?"

लड़के ने कहा—"मैं नौकरी नहीं करूँगा।"

पहले तो सुन कर वह देखती की देखती रह गई। फिर मारे गुस्से के उसके समान को मेज पर से उठा कर, फेंकती हुई बोली—"अरे, ये जो तेरे कपड़ों में सत्तर रुपये ख़र्च हुए हैं, सो बता, अब तेरे किस बाप से मैं लूँ, भिखमंगे? कह दिया नौकरी नहीं करूँगा। तो तू करेगा क्या? तू तो वही जूठे टुकड़े खायगा? तू उसी लायक है।"

लड़का उसी निर्विकार दृष्टि से देखता हुआ खड़ा रहा। सब सुना, पर कुछ न कहा।

रत्नप्रभा कुछ देर स्वयं ही अपने क्रोध को व्यर्थ करती रही। अन्त में बोली—"घर में झाड़ू बुहारी करोगे? सफ़ाई-धुलाई करोगे?"

"करूँगा।"

"गाना नहीं गाओगे?"

लड़का चुप रह गया।

रत्नप्रभा ने कहा—"इन कपड़ों झाड़ू दोगे? तुम्हें कपड़े की भी लाज नहीं है?" कहकर उसने दरवाज़े खोल दिये और घण्टी बजाई।

घंटी पर वही शोफ़र उपस्थित हुआ, उसे कहा—"सुनो, इस आदमी को ले जाओ। मंगत को दफ़्तर की तरफ़ भेज देना। वहाँ से उसे ड्रेस मिलेगी। और उसका पुराना जोड़ी कपड़ा लेकर इसे दे देना और उसका सब काम इसे बता देना।—क्यों, तुम्हारा नाम क्या है?"

लड़के ने कहा—"मालूम नहीं।"

रत्नप्रभा बोली—"अजब पागल हो, नाम भी मालूम नहीं है। लोग कुछ तो कहते होंगे ?"

"नन्हा बैरागी कहते हैं।"

"नन्हा बैरागी!" कहकर रत्नप्रभा ज़ोर से हँस उठी। बोली-"अँगरेज़ी बाल बैरागियों के नहीं होते हैं। जाओ-सुना ? तुम बैरागी नहीं हो। और यह तुम्हें तुम्हारा काम बता देंगे।"

चलते हुए मेज से लड़के ने अपनी कफ़नी उठा लेनी चाही। पर रत्नप्रभा ने कहा—"इसमें कोई लाल नहीं टँके हैं, जो बैरागो को इतना लोभ है! इसको यहीं रहने दो। तुम जाओ, काम देखो!"

वह काम देखने चला गया। उसके बाद रत्नप्रभा को भी बहुत काम हो आया। रत्नप्रभा उद्यत रहती है और धन पर हाथ नहीं रोकती। इससे अल्पायु में ही अनायास वह सार्वजनिकता के लिए आवश्यक होती जा रही है। इस तरह की अनेकानेक व्यस्तताओं से उसे अवकाश नहीं मिलता। घर से आते-जाते रोज़ देखती है कि वह आदमी (जिसका नाम मंगल पड़ गया है) आधी धोती में उसी के हुक्म की प्रतीक्षा में बाहर चौखट से लगा बैठा है। पर उसे समय नहीं है और वह देखती हुई निकल जाती है।

मंगल तमाम घर साफ़ करता है। सबके कपड़े धोता है। और इस घर के दूसरे नौकरों की भी ताबेदारी निबाहता है। यह वह जानती है और सन्तुष्ट है। एक रोज़ जाते-जाते उसने कृपापूर्वक पूछा—"मंगल, आराम से हो ?"

मंगल ने चेहरा उठाकर मालिकन की ओर देखा। वही दृष्टि,

जिसमें अभाव है न अभियोग। मानो एक चट्टान की स्थिरता है।

रत्नप्रभा प्रश्न पूछती हुई बिना उत्तर लिये बाहर निकल गई और परेशान हो आई। उसकी परेशानी यह थी कि सब काम ठीक हो रहा है। मंगल सवेरे उठता, भजन गुनगुनाता और औरों के उठने से पहले तमाम घर साफ़ कर डालता है। यही सब रत्नप्रभा को ठीक नहीं लगता।

उसने शोफ़र को बुला कर डाट कर कहा—"तुम्हारे नये आदमी को इतनी तमीज़ नहीं कि हम जायँ तो अदब से उसे खड़ा होना चाहिये। यह भी मुझे सिखाना पड़ेगा ?"

देखा गया कि आगे से मंगल रत्नप्रभा के जाते समय झुक कर बन्दगी करने लगा है। पर इससे रत्नप्रभा की परेशानी कम न हुई। लगा कि आदमी नहीं झुकता, यन्त्र झुकता है।

इन्हीं दिनों रत्नप्रभा को मालूम हुआ कि उसे शिमला जाना होगा। एक शिष्टमण्डल के शिमला जाने की आवश्यकता उसने महिला-समिति को क्या सुझाई कि वह काम उसी पर आ पड़ा।

रत्नप्रभा ने शोफ़र को बुलाया और कहा—"मेरे साथ शिमला एक आदमी जायगा। कौन जायेगा ?"

शोफर ने कहा—"जिसे आज्ञा हो।"

"तुम्हारा नया आदमी कैसा है ?"

"है चुस्त, पर बोलता नहीं है।"

"गूँगे का मुझे क्या करना है ? लेकिन बिलकुल नहीं बोलता है ? और काम तो कर लेता है। बदतमीज़ तो नहीं है ?"

"अभी नया है; बेअदब तो नहीं है।"

"उसे बुलाओ तो।"

मंगल आकर सामने खड़ा हो गया। जैसे बुत हो और अन्दर की आँखों से देख रहा हो।

रत्नप्रभा ने जल्दी से शोफ़र से कहा-"जाओ दफ़्र सेस्टोर के लिये दो गरम सूट का आर्डर करा लाओ। सोमवार को जाना है।'

शोफर सुनकर ठिठका रह गया। बोला—"हुजूर, पर्ची—"

रत्नप्रभा बिगड़ कर बोली—"क्या बात है जी, पुराने होकर भूलते जाते हो! कह नहीं रही हूँ, आर्डर टाईप करा लाओ, दस्त-खत ले जाना। या—"

शोफ़र सिर झुकाकर चला गया। तब रत्नप्रभा ने कहा—"मंगल, सुनते हो? तुम किसी से बोलते क्यों नहीं?"

मंगल ने सुन कर ऊपर देखा, उत्तर नहीं दिया।

"गाते भी नहीं?"

इसका भी उत्तर उसने नहीं दिया।

रत्नप्रभा बोली—"यहाँ तुम गाते क्यों नहीं हो?"

वह अपनी उसी दृष्टि से देखता रह गया, कुछ भी कहने का प्रयास नहीं किया।

अवश भाव से रत्नप्रभा बोली—"तुम अच्छा गाते हो। भक्ति के भजन मुझे अच्छे लगते हैं। पर भक्ति मेरी छूट गयी है। मुझे और तरह के काम रहते हैं। पर तुम्हें क्या हुआ है? मैं बहुत बुरी हूँ? तुम्हें ख्याल तो नहीं कि मैंने तुम्हें पिटवाया था। झाड़ा-

बुहारी का काम पसन्द न हो, तो तुम छोड़ दो। तुमने एक बार भी नहीं कहा कि तुम्हें वह नापसन्द है। देखती हूँ, तुम इसका भी अहसान नहीं मानते कि मैंने तुम्हें कैसी हालत से बचाया है।...तो क्या मैं इतनी बुरी हूँ?...शिमले में जंगल हैं, पेड़ हैं। कभी देखा है? नहीं देखा होगा। वहाँ सुनसान भी बहुत है। यहाँ जैसा वहाँ नहीं है। वहाँ तुम खुल कर गा सकते हो।—क्या देखते हो? इस तरह नहीं देखना चाहिये।—ले, आये?"

शोफ़र से लेकर कागज़ पर रत्नप्रभा ने दस्तखत कर दिये और कहा—"लो मंगल, अब तुम इनके साथ जाओ। मुझे फ़ुर्सत नहीं होगी, लेकिन सोमवार को जाना है। तय्यार रहना कि कहते ही चल सको।"

दोनों को भेज कर वह पलंग पर लेट गयी। बहुत दिनों में वह दिन में पलंग पर लेटी है। लेट कर अपने मन को पाना चाहती है। पर वहाँ थाह नहीं मिलती। तो शिमला न जाऊँ? अकेली न जाऊँ...। इस प्रकार उधेड़बुन में रह कर अन्त में इच्छा-पूर्वक उसने सोचा कि यह आदमी जड़ है, इसको सीधा करना होगा।

शिमला में उसने एक अलग कोठी ली। वहीं एक पहाड़ी नौकर की व्यवस्था की। मंगल से कहा—"तुम आज़ाद थे, मैंने तुमको बन्धन में डाला। यहाँ तुम नौकर नहीं हो, जो चाहे कर सकते हो।"

वह सुनता हुआ खड़ा रह गया।

रत्नप्रभा बोली—"घूमो, रहो, गाओ । मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है । अब तुम आज़ाद होकर खुश हो ।"

उसके चेहरे पर न खुशी थी, न रंज । बदन पर नया सूट था, जो वहाँ रक्खा हुआ मालूम होता था । उत्तर के लिए जब उस ने अपने को विवश पाया तो कहा—"मेरी कफ़नी कहाँ है ? वह मिल जाय तो मैं चला जाऊँगा ।"

रत्नप्रभा जल्दी से बोली—"कहाँ चले जाओगे ? मैं तुम्हें अलग थोड़े ही कर रही हूँ । यह कपड़े तुम्हारे हैं, जगह तुम्हारी है । तुम ऐसे बेगाने से क्यों रहते हो ? मैं तो कहती हूँ कि तुम पाबन्द नहीं हो । अब तुम गा सकते हो । बाँसुरी बजा सकते हो । यह लो, तुम्हारी बाँसुरी मैं लेती आई हूँ । तुम बड़े इकले रहते हो और बोलते नहीं हो । यह ठीक नहीं है । हम सब भी तो दुनिया में हैं । तुम्हारे लिये जैसे कोई नहीं हैं । ऐसे इकले तुम क्यों रहते हो ? मैं हूँ । मैं तुम्हें यहाँ ले आई हूँ । मैं तुम्हारे लिए और भी कर सकती हूँ । तुम क्या चाहते हो ?"

वह लड़का रत्नप्रभा की सारी बातें सुनता हुआ चुप ही रह गया । जैसे वह कुछ समझा ही नहीं ।

रत्नप्रभा कहती रही—"मैंने तुम-सा आदमी नहीं देखा । जो इतना जड़ है कि—पता ही नहीं । अरे, बोलते क्यों नहीं कि तुम क्या चाहते हो ?"

रत्नप्रभा को ऐसा मालूम होता था कि जैसे उसके सामने वह कुछ भूल जाता है । जैसे जाने कहाँ हो । वह उस सारे काम

भौंचक-सा बना रहता है। रत्नप्रभा रीझती है, खीजती है; पर वह यह सब अपने में ही कर लेती है। वह तो अचल पत्थर की मूर्त्ति की नाईं खड़ा ही रहता है।

रत्नप्रभा गुस्से में भरकर बोली—"जाओ, हटो मेरे सामने से!"

उसी गुस्से में ट्रंक में से कफ़नी निकालती हुई फेंक कर बोली—"लो, और निकलो यहाँ से।"

कुछ देर तो लड़का विस्मय में डूबा खड़ा देखता रहा। फिर अपनी कफ़नी और बाँसुरी लेकर वहाँ से चल खड़ा हुआ।

रत्नप्रभा देखती रही और कुछ नहीं बोली। वह अपने को नोंच लेना चाहती थी। ऐसा अपमान उसका कभी नहीं हुआ। उठ कर कोठी की बालकनी पर आ गई और सामने फैले बेतरतीब पहाड़ी ढालुओं को देखने लगी। देखती क्या है कि लड़का कफ़नी पहिने और बाँसुरी हाथ में लिये कोठी से निकला चला जा रहा है। वह अपने स्थान से हिली न डुली, और लड़का उतरता हुआ घने पेड़ों के अँधेरे में धीरे-धीरे मिल कर ओझल हो गया।

पेड़ वे असंख्य हैं। उन में गहरी छाँह है। उन में सब छिप जाता है। उस में सब खो जाता है। कैसे वे घनियारे हैं! अँधेरे और गहरे और मौन। बादलों का उन पर वसन है, जैसे सब रहस्यमय हो। यह बन, अवसन्न प्रतीक्षा में, क्या किसी को बुला रहा है? किस को बुला रहा है?

रत्नप्रभा इसी तरह दूर तक फैले हुए तमसावृत वन प्रान्त को अपनी बालकनी पर खड़ी देखती रही। मानो क्रमशः सघन होते

हुए उस अपार अन्धकार की गोद में से उसे कुछ निमंत्रण प्राप्त हो रहा हो। पर हठात् वह लौटी। आकर अपने काम में लग गयी।

दिन बीत गया। शाम भी बीत चली। तब उसने लम्बी साँस ली। चलो छुट्टी हुई। जाना था, वह चला गया। उसने चाय मँगाई, और चाय आ गई। चाय से उसे फुरहरी आई। बहुत सरदी है। चारों तरफ़ शाल लपेट कर उसने खिड़की खोल ली। दूर तक बादल ही बादल थे। कुछ दीखता नहीं था। अदृश्य बादल खिड़की में से सारे कमरे में भरे आ रहे थे। शाल लेकर उसने कानों को भी ढँक लिया। बाहर बूँदा-बाँदी हो रही थी, उसने चाय का दूसरा कप बनाया और उसमें से उठती भाप को देखा।

रात पड़ने पर उसने पहाड़ी से पूछा। मालूम हुआ कि लड़का यहीं मौजूद है। सुनकर रत्नप्रभा ने उधर ध्यान नहीं दिया। लेकिन लड़के ने स्वयं अपनी चिन्ता कर ली थी। खाना खा लिया था और कंबल लेकर ऊपर कोने में आकर सो गया था।

इसी तरह क्रम चलता रहा। लड़का खाने के समय आता, बाकी समय बाहर रहता। एकाध रात भी उसने बाहर कहीं बिताई।

एक दिन रत्नप्रभा ने उससे कहा—"तुम उस पहाड़ी लड़की को बाँसुरी बजा कर सुनाते हो! वह बहुत सुन्दर है?"

लड़के ने कहा—"वह मुझसे हँसती है।"

"तुम भी उससे हँसते हो?"

"हाँ, मैं भी उससे हँसता हूँ।"

"तो तुम इकले नहीं हो? बैरागी नहीं हो?"

"नहीं हूँ ।"

"तुम मेरे साथ तो नहीं हँसते। मैं हँसूँ तो हँसोगे ?"

लड़का चुप रह गया।

"हँसोगे नहीं और बाँसुरी भी नहीं बजाओगे।—मैं ऐसी बुरी हूँ ?"

लड़का कुछ नहीं बोला, उसी तरह देखता रहा।

"लेकिन मैं बुरी नहीं हूँ। बाँसुरी बजाओगे, तो मैं सुनूँगी। हँसोगे, तो मैं हँसूँगी। तुम मुझ से ऐसे क्यों रहते हो ?"

लड़का कुछ भी नहीं बोल सका।

रत्नप्रभा बोली—"उससे तुम प्रेम करते हो ?"

लड़के ने उत्तर नहीं दिया।

"उससे विवाह करोगे ?"

उसका भी उसने कुछ उत्तर नहीं दिया।

उसके घर वालों की यह शर्त है, "विवाह करके तुम्हें यहीं बसना होगा, जानते हो ?"

"जानता हूँ !"

"तो तुम मेरे साथ नहीं चलोगे ?"

लड़का चुप रह गया।

रत्नप्रभा ने उसी समय पहाड़ी नौकर और उसकी बहिन को बुलाया। कहा—"अब हम कल चले जायँगे। तुम हिसाब कर लो, और अभी तुम जा सकते हो।"

उनके जाने पर रत्नप्रभा ने लड़के से कहा—"अब सब काम

यहाँ का तुम को करना है, और तुम मेरे साथ ही चलोगे।"

लड़के ने इस पर किसी तरह की आपत्ति नहीं की। वह बिना कुछ कहे-सुने घर की सफ़ाई से लेकर खाना बनाना आदि सब काम करने लगा। वह काम के सिवाय घर से बाहर भी नहीं जाता था, बोलता भी नहीं था।

रत्नप्रभा इस आदमी से परेशान थी। सब काम एकदम ठीक करता है। ऐसा भी क्या आदमी कि यंत्र हो। इस बार गुसलखाने में जो पहुँची और पानी डालने को हुई तो देखा कि जगह पर साबुनदानी नहीं है। उसने ज़ोर से आवाज़ दी—"साबुन कहाँ है?"

लड़के ने कहा—"अन्दर ही है।"

रत्नप्रभा बोली—"यहाँ नहीं है, देख कर लाओ।"

लड़का अपनी जगह ही रहा। वहीं से कहा—"देखिए, वहीं होगी।"

रत्नप्रभा झींक कर बोली—"अरे आँख के अन्धे, यहाँ आकर बता, कहाँ है?"

लड़के ने कुछ नाराज़ी में कहा—"कह रहा हूँ, देखिये वहीं होगी।"

स्नानागार के दरवाज़े का पट ज़ोर से बाहर फेंक कर रत्नप्रभा बोली—"वहीं से बातें बना रहा है। यह नहीं कि आके निकाल दे, कहाँ है।"

कह कर एक तौलिया उसने अपने बदन पर ले लिया। लड़के ने आकर पंजों के बल खड़े होकर पीछे से खींच कर डिबिया उतार दी।

रत्नप्रभा बोली—"देखो भला, मैं वहाँ से खींच कर कैसे लेती ? और यह पानी ! खड़े क्या हो, हाथ डाल कर देखो, गरम है ? और गरम लाओ ।"

उसने गरम पानी ला दिया ।

"तुमसे इतना कहा, बालटी को पटड़े से इतनी दूर न रक्खा करो । अब मैं कैसे सरकाऊँ ?—इसमें और ठँडा मिलाओ, अभी और । अरे, बस बस..."

लड़का सब काम करके चला आया । रत्नप्रभा नहा कर आई, तो बहुत असन्तुष्ट थी—"ऐसे कैसे चलेगा जी ? मन तुम्हारा कहाँ रहता है ? उस लड़की की बातें सोचा करते हो ? काम में ध्यान रक्खा करो ।"

उस दिन संध्या से ही बारिश होने लगी थी । बौछार तेज पड़ रही थी । शायद ओले तक हों । हवा साँय-साँय करती हुई किवाड़-खिड़कियों पर थपेड़े दे रही थी ।

रत्नप्रभा ने रजाई चारों तरफ़ अच्छी तरह लपेट ली । हवा कहीं से आती, तो बर्छी की धार-सी लगती थी । उसने लड़के को बुलाकर कहा—"इस वक्त चाय बना सकते हो ?"

लड़का तभी जाकर चाय बना लाया ।

रत्नप्रभा ने कहा—"लो बैठ जाओ । खड़े क्यों हो ?—आओ, यहाँ बैठ जाओ ।"

बहुत कहा तो लड़का स्टूल लाकर बैठ गया। चाय भी ले ली।

रत्नप्रभा बोली—"तुम्हें सरदी नहीं लगती ? मुझे तो रजाई

में भी सरदी लग रही है। ऐसे समय मेरे लिये चाय बना कर लाये हो—तुम कौन हो ? नौकर कभी ऐसे काम नहीं करता। सच कहो, मुझे—क्या समझते हो ?"

लड़का आँख फाड़े उसे देखता रह गया।

रत्नप्रभा बोली—"सुनो, मुझे कोई नहीं समझता। इसी से मैंने तुम्हें पीटा—इसी से तुम से काम लेती हूँ। इसी से सब से नाराज़ होती हूँ। कोई मुझे समझे तो मैं अच्छी हो सकती हूँ। तुम मुझे अच्छा बना रहे हो। पर तुम चुप रहते हो और मुझे शक होता है, और मैं बुरी हो जाती हूँ। मैं भी अकेली हूँ। बहुत अकेली। तुम अब नहीं गाते—'प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो ?"

लड़का यह सब सुनता रहा—

"मैं अब भी कहने को सोचती हूँ कि प्रभु जी मेरे अवगुन चित में न लाना। सोचती हूँ, पर कहती नहीं, भूल जाती हूँ। हम सब भूल जाते हैं। मुझे काम रहता है। कामों में हम सब भूल जाते हैं।...तुम कहाँ सोओगे ? वहाँ हवा तो नहीं आती ?"

"नहीं आती।"

"नीचे सोते हो ? एक कम्बल में सरदी नहीं लगती ?"

"नहीं लगती।"

रत्नप्रभा देखती रही। सहसा बोली—"मैंने क्या बिगाड़ा है ? मुझे क्यों सताते हो ? तुमसे बदला ले रही हूँ, इस से तुम मुझ से बदला ले रहे हो ? मैं तुम्हें पहिचानती हूँ। तुम वह नहीं हो जो दिखते हो। तुम सब सहते हो, तुम सब सुनते हो। तब यह नहीं कि

तुम सब देखते भी नहीं हो। नहीं, तुम समझते हो । सच कहो, गुस्सा करती हूँ, इसके लिए मैं गुस्से के लायक हूँ ? तुम गुस्सा नहीं करते। तुम, प्रेम करते हो । कह सकते हो कि तुम प्रेम नहीं करते ? मैं तुम्हारी आँखों में सब देखती हूँ, तुम यहाँ आओ, मेरे पास बैठो।"

लड़का विवश-सा बढ़ता हुआ उसके पास जा बैठा । रत्न-प्रभा ने दोनों हाथों से उसका हाथ पकड़ा और अपने माथे पर लिया। माथा गरम था।

"यह क्या, तुम्हें बुखार है।"

रत्नप्रभा ने कहा—"बुखार नहीं है, तुम बैठो।"

"बुख़ार तेज़ है।"

कह कर, खड़े होकर उसने शाल को रत्नप्रभा पर ठीक कर दिया कि कान ढँक जायें और खुद लेकर उसकी दोनों बाहों को रज़ाई के अन्दर कर दिया । अनन्तर चिमनी की आग में और लकड़ी डाल दी।

अनन्तर चलने लगा, तो रत्नप्रभा बोली—"कहाँ जाते हो?"

लड़के ने कहा—"डाक्टर को लिये आता हूँ।"

रत्नप्रभा ने कहा—"नहीं। सुनो, मेरी एक बात सुन जाओ। यहाँ आकर बैठो।"

उस अनुरोधभरी ध्वनि पर वह ठिठका और आकर सिर-हाने के पास बैठ गया।

रत्नप्रभा पर ज्वर चढ़ता जा रहा था। बोली—"इस छत्र

वेश में क्यों जी, तुम क्यों आये? यह तो परीक्षा का कायदा नहीं है। लेकिन अब मैं तुम्हें पहिचान गई हूँ। अब छलना में आने वाली नहीं हूँ।

कह कर रत्नप्रभा ने दोनों बाहें उसकी टाँगों पर डाल दी। वह कहती गई, "मेरे मान की परीक्षा ही लेने आए न हो तुम, बैरागी? मुझे मान पर चढ़ा कर तुम झुकते चले गये, झुकते चले गये। अब मैं वह खेल समझ गई हूँ। अब तो तुम्हारे झाँसे में आ कर तुम्हें जाने देने वाली मैं नहीं हूँ, मेरे मौनी! म्हाने चाकर राखो जी, प्रभु म्हाँने..."

लड़का घबराहट से रत्नप्रभा के चेहरे को देखता रहा। फिर व्यग्रता से वह उठ खड़ा हुआ।

रत्नप्रभा हाथ पकड़ कर बोली—"कहाँ जाते हो मेरे बैरागी? यह कह कर जाओ कि तुम्हें गुस्सा नहीं है, और मुझे माफ़ कर दिया!"

लड़का असहाय पड़ी रत्नप्रभा की आँखों में करुणा से देखता हुआ ठिठका खड़ा रह गया।

एकाएक उसका हाथ छोड़ कर रत्नप्रभा ने कहा—"अब जाओ, तुम्हारी आँखों में मैंने सब पा लिया। सब पा लिया। अब तुम जाओ।"

लड़का तुरन्त डाक्टर को लेने चला गया।

डाक्टर की सहायता और अपनी अथक सेवा से रत्नप्रभा को उसने पूरी तरह स्वस्थ कर लिया। उसके बाल अब बढ़ गये थे

और पहले की तरह वह कफ़नी ही पहिनने लगा था।

कुछ स्वस्थ होकर रत्नप्रभा ने कहा—"मैं वचन देती हूँ कि अब मैं तुम्हें खोऊँगी नहीं। लक्ष्मी चंचल है, संसार असार है और अकिंचन भक्ति ही व्यक्ति का सर्वस्व है। यह मैं तुम से देख सकी। अहंकार की जगह यह बात मुझ में बसी रहे इसके लिये सदा तुम्हारा ध्यान धरूँगी। पर अब जाते हो, तो भी अपनी बाँसुरी मुझे नहीं सुनाओगे?"

तब प्रथम बार इस रत्नप्रभा के प्रति मुस्करा कर बालक ने बाँसुरी ओठों से लगाई।

सुन कर रत्नप्रभा बेसुध हो रही। सुधि आई तो बाँसुरीवाला जा चुका था।

उर्वशी

क्लब में बाहर बैडमिंटन हो रहा है, और कुछ लोग कुरसी पर गपशप कर रहे हैं। लेकिन चार जनों की एक मण्डली इस सबसे बच कर एक छोटी गोलमेज़ के चारों ओर, बिजली के पंखे के नीचे, अन्दर कमरे में ब्रिज पर जमी हुई है। सत्याचरण ब्रिज का माना हुआ खिलाड़ी है और वह जीत भी रहा है। पर वह अनमना मालूम होता है।

खेल के बीच में उसने कहा—"हटाओ जी, आओ, कुछ बात करें।"

हरिश्चन्द्र ने एक खेल के लिये और आग्रह किया। खेल से उसमें उत्साह जागता है। हार से वह उत्साह और प्रोत्साहित होता है। सत्याचरण ने हरिश्चन्द्र की ओर उदास भाव से देखा और, खैर, फिर ताश बँटने लगा।

इस तरह शुरू होकर अकेले में काफ़ी देर तक ब्रिज खेला

जाता रहा। सत्याचरण खिन्न था और अनायास अपनी जीत से और भी खिन्न। इस पर उसने बिना अपने पत्तों की तरफ़ देखे हुए ही ऊँचा दाँव बोल दिया। वह बेहद झल्ला आया, जब उसने देखा कि पत्ते ठीक उसी बाज़ी के लायक हैं, और वह फिर जीत गया है। अन्त में वह उसी तरह बोलता गया और फिर बुरी तरह हार गया। तब कहा—"लो, अब हटाओ, ऐसी सुहावनी संध्या हम बरबाद कर रहे हैं।"

इसके बाद मित्रों में बातचीत होने लगी। वह बात इस विषय से उस विषय पर फुदकती हुई जाने कहाँ-कहाँ फिरने लगी। रूज़वेल्ट-चर्चिल, जापान-संकट, नये फिल्म, युवती की हत्या, गांधी-पत्र-व्यवहार सब पर चर्चा घूम गयी।

सत्याचरण ने उसमें विशेष योग नहीं दिया। इस समय क्लब के और लोग वहाँ आ गये थे।

हरिश्चन्द्र ने कहा—"क्यों भाई, बाजी का इतना भी क्या ग़म? तुम तो बोलते भी नहीं?

सत्याचरण ने उधर ध्यान न देकर कहा—"मेरा एक प्रस्ताव है, दोस्तो! वह यह कि सब अपनी ज़िन्दगी की ऐसी कोई घटना सुनायें जिसमें उन्हें बेवकूफ़ बनना पड़ा हो।"

लोगों ने एक आवाज़ से कहा "मंजूर" यही हरिश्चन्द्र ने सुझाया—"और आरंभ सत्याचरण ही करें।"

दूसरे साथियों ने भी सहमति दिखलाई, और तब पकड़े जाकर सत्याचरण ने कहना शुरू किया—

बेवकूफी, मेरा अनुभव है, कोई नीरस वस्तु नहीं है। इससे उसे अवगुण भी नहीं कहा जा सकता। कठिनाई तब उपस्थित होती है, जब व्यक्ति मान उठता है कि वह बेवकूफ़ बन रहा है; अन्यथा वह अत्यन्त आनन्ददायक अवस्था है।

सन् '२५—'२६ में मैं वियना रहा। यहाँ एम० ए० करके मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण के विशेष अध्ययन के लिये मैं वहाँ गया था। पेरिस में हमारी दूकान भी थी। यहाँ पढ़ते हुए भी मैंने दूकान के जवाहरात का काम देखना शुरू कर दिया था। पिता मेरे योरुप जाने के पक्ष में न थे। पर मैंने कहा कि मैं व्यवसाय का काम भी साथ ही करता रहूँगा, जिस की वियना जैसे नगर में एक विद्यार्थी को विशेष सुविधा हो सकती है। इस भाँति मैंने बहुत मनोरम चित्र पिता के सम्मुख उपस्थित किया और अन्त में एक मुस्कराहट के साथ पिताजी ने भी अनुमति दे ही दी।

पेरिस में मुझे बताया गया कि वियना जवाहरात का किसी से कम अच्छा ख़रीददार नहीं है। यह बात मैंने सच भी पायी। व्यवसाय के उत्साहप्रद अनुभव से आरम्भ होकर वियना का अध्ययन-काल मेरे लिये आनन्द-काल ही हो रहा और वहाँ पूरे तीन साल रहा।

भारतीय लोग भी उन दिनों वहाँ काफ़ी थे। पचास से ऊपर होंगे। अधिक मेरे समान विद्यार्थी थे, कुछ यात्री, शेष रोगी। वियना में आधे डाक्टर हैं; क्योंकि वहाँ दुनिया के रोगी आते हैं। स्थायी आबादी के अनुपात से डाक्टर आधे से भी ज्यादा हों, तो अचरज

नहीं। इससे दूर-दूर देश के लोग वहाँ आते रहते हैं। भारतीयों की वहाँ एक गोष्ठी थी और जाते ही मैं उसमें शामिल हो गया। क्लब उसे बाकायदा तो नहीं कहा जा सकता, एक उपहारगृह में अकसर शाम को हम मिला करते थे। कुछ जर्मन, आस्ट्रीयन और फ्राँसीसी भी हमारे साथ थे, और पर्यटन के शौकीन अमरीकन भी एक दो हमारे साथ बने रहते थे।

मेरा ध्यान शुरू में ही श्रीमती सेन की तरफ़ गया। लोग उन्हें मिसेज़ सेन या मिस शरत् कहते थे। कई वर्षों से वह वियना में ही थीं और वहाँ के समाज में ही उनका जैसे घर हो, इस सहज भाव से व्यवहार करती थीं। यहाँ वह एक डाक्टर के सेनेटोरियम में अपना अलग अच्छा-सा स्थान लेकर रहती थीं। मिसेज़ और मिस दोनों वह एक साथ कैसे हैं, यह आरम्भ में मैं किसी से न पूछ सका।

मुझे उनकी सरलता, कुशलता और तत्परता ने आकृष्ट किया। उन्हें मैंने कभी सुस्त नहीं पाया। सदा प्रसन्न और प्रफुल्लित दीखती थीं। भारतीयों में वह विशेष लोकप्रिय थीं। मैं देख सका कि वहाँ के स्वदेशी यानी विदेशी समाज में भी वह उसी तरह अभ्यर्थनीय, स्पृहणीय और समरस हैं।

वियना नगर से वह पूरी तरह परिचित थीं। हर अभ्यागत भारतीय को उनका सहारा था। मेरे लिए एक परिवार में उन्होंने ही स्थान का प्रबन्ध किया था।

उनसे मेरा परिचय, जो साधारण था, इस भाँति घनिष्ठता

की ओर बढ़ा। अमरीका के एक धनिक पुत्र योरुप की सैर कर रहे थे। साथ उनके एक ब्रिटिश कुमारी थीं। उपहार-गृह में श्रीमती सेन ने संकेत से मुझे बुलाया और उनसे परिचय कराया कि मैं जौहरी हूँ, यह जान कर उन्होंने मुझ से कुछ सामान देखना चाहा। मेरी वहाँ दूकान तो कोई थी नहीं। फिर भी पास माल काफ़ी था। लेकिन मैं इस बात का आभास, जहाँ रहता था उस परिवार वालों को, किसी तरह होने नहीं देता था। इससे मैं असमंजस में था कि सामान इन लोगों को किस स्थान पर दिखाया जाय। ऐसे समय में अनायास कुमारी शरत् की सहायता प्राप्त हो गई। बोलीं—"मैं भी जवाहरात देखना चाहती हूँ। आप सब लोग मेरे यहाँ कल चाय पर कृपया पधार सकें, तो मैं बहुत आभारी हूँ। आइएगा; मि० सत्य?"

यह प्रबन्ध सब को सुविधाजनक हुआ और हम लोग अगले दिन श्रीमती सेन के यहाँ जमा हुए। इस मुलाकात में मुझे मालूम हुआ कि उनका नाम शरत् पूर्णिमा है। किन्हीं सेन से उनका विवाह हुआ है। पर वह पूर्णतः स्वयं है और शरत् है। उन श्रीयुक्त सेन के सम्बन्ध में स्पष्ट ही मैं कुछ नहीं पूछ सका। पर उसके बाद से अनुमति लेकर मैं उन्हें शरत् ही कहने लगा।

अमरीकनों ने काफी सामान पसन्द किया और नक़द नोटों में मूल्य चुकाया। शरत् ने कहा कि इस तरह नज़दीक से हाथ में लेकर जवाहरात देखनेका उसका पहला मौका है। सचमुच ये पत्थर सुन्दर होते हैं।

शरत् ने अमरीकन से पूछा कि इन ख़रीदी हुई चीज़ों का वह क्या करेंगे ?

अमरीकन युवा ने कहा—'मैं ख़रीदता नहीं हूँ। ख़र्चता हूँ। रुपया जो आता है वह ख़र्च न हो, तो हमें खा जाय। मैं जीवन में विश्वास रखता हूँ और हाथ से पैसा जाकर जीवन में लहरों की सृष्टि करता है। रुक कर वह जीवन को रोकता है। सतत तरंगमय है, वही मेरी दृष्टि में जीवन है।...क्या मैं देख सकता हूँ, कुमारी उज्ज्वल, (अमरीकन ने मिस ह्वाइट कहा था) कि सोने के सूत में टँका ये नीलम आपकी ग्रीवा की प्रदक्षिणापूर्वक वक्ष पर कैसा शोभायमान होता है।'

कहते-कहते उस अमरीकन युवक ने वह नीलम का कंठा शरत् के गले में डाल दिया। शरत् की देह का वर्ण कच्चे दूध की नाईं सफ़ेद था। विदेश में वह वर्ण और भी सुन्दर प्रतीत होता था। योरुप में साफ़ सफ़ेदी कम मिलती है। उस पर कुछ भूरापन रहता है। किंचित् नीलिमा के आभास के लिए वहाँ अवकाश नहीं होता। शरत् की हिम-धवल खुली गरदन पर से लटकता हुआ वह पारदर्शी द्युति से झलकता नीलम बहुत ही सुन्दर मालूम होता था। अमरीकन की साथिन रूथ उस पर मुग्ध ही जान पड़ी। इस मुग्धता पर प्रसन्न होकर अमरीकन ने बक्स में से निकाल कर उसी समय दूसरा कंठा रूथ को पहिना दिया। गरदन के पीछे के किनारे से क्रमशः बढ़ते हुए आकार के मोती उसमें पिरोये हुए थे, और बीच में हरे पन्ने के दोनों ओर लाल माणिक जड़े थे। पन्ने के ऊपर शिवशीर्ष पर से

उच्छलित गंगा-फेन का भ्रम देता हुआ एक निर्दोष हीरा टँका हुआ था।

शरत् ने बढ़ कर रूथ का चुम्बन लेकर इस कंठहार वलयित इंगलिश सौंदर्य का अभिनन्दन किया, जिस पर रूथ लजा आई। अनन्तर शरत् अपना हार उतार कर अमरीकन को वापस करने लगी। अमरीकन युवा ने उसे लेने से इनकार किया। शरत् ने कहा—"मैं इसे कैसे ले सकती हूँ ? हम अभी मित्र भी तो नहीं हैं ?"

अमरीकन ने कहा—"इससे सुन्दर वक्ष नीलम के भाग्य में कहाँ होगा ? मैं उसे यथास्थान पहुँचने में निमित्त हूँ, तो क्या इतना गौरव भी मुझसे छीनियेगा ? आपका कंठ ही उसकी अपनी जगह है।"

इसी प्रकार के वाक्यों से अमरीकन ने शरत् को लाचार कर दिया और वह हार फिर उसके गले में पड़ गया।

अब इस बात पर मुझे बड़ी लज्जा थी। मैं रह-रह कर सोचता था कि यह मुझे ही क्यों नहीं सूझा कि यह कंठ-हार शरत् को दे दूँ। किन्तु यह सोच कर भी, तब या उसके बाद, दूसरी कोई चीज़ मैं शरत् को दे सका, यह भी नहीं। तभी सोचता हूँ कि मनुष्य की आकांक्षा और साथ ही उसकी क्षुद्रता का अन्त नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हम में घनिष्ठता हो चली थी। मैं अकसर शरत् के यहाँ जाता था और वह भी कभी-कभी हमारे परिवार में आ जाती थी। हम लोग साथ घूमते, सिनेमा

जाते, काफे में बैठते। मुझे ख़र्च की तंगी न थी। और शरत् की वदान्यता भी कम न थी।

हम लोग तरह-तरह की बातें करते। उसने मेरे सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त कर ली। मैंने बतलाया कि मेरा विवाह हुआ तो था, पर द्विरागमन से पहले ही पत्नी का अकस्मात् देहान्त हो गया। बात झूठी थी। घर पर पत्नी और तीन वर्ष की बालिका छोड़ कर मैं योरुप गया था। शरत् के सम्बन्ध में मुझे कोई विशेष तथ्य ज्ञात हुआ, इसका मुझे भरोसा न होता था। वह अपने सम्बन्ध की चर्चा को टालती तो न थी; पर उत्तर कुछ ऐसा विचित्र और इस प्रकार मुस्करा कर देती थी कि मैं नहीं जानता था कि क्या मैं विश्वास करूँ और क्या नहीं। उसने बताया कि मैं रोगिणी हूँ। मानसोपचार के लिए पति ने यहाँ रहने की आज्ञा दी है। डाक्टर जिस दिन कह देंगे या 'वह' बुलायँगे, देश चली जाऊँगी। पर चिह्न उलटे दिखाई देते थे। चेहरे पर कहीं रोग के लक्षण न थे। यद्यपि देह से दोहरी न थीं, पर उनकी-सी तत्पर, अप्रमादी और निःशङ्क महिला मैंने कम ही देखी होंगी। पति का आसपास कोई चिह्न न था। न उसके व्यवहार में किन्हीं पति के अस्तित्व का समर्थन था। पूछा तो कहा, "पति वृद्ध हैं और असमर्थ हैं।"

"ख़र्च वही भेजते हैं?"

"हाँ, वही भेजते हैं।"

"तो तुम निर्द्वन्द्व हो?"

"हाँ, एकदम निर्द्वन्द्व हूँ।"

"पति के पास जाने की चिन्ता तो नहीं है ?"

"चिन्ता मुझे डाक्टर और पति दोनों की ओर से निषिद्ध है।"

"पति तुम्हें याद करते हैं ?"

"करते है; पर मुझे करने को मना करते हैं।"

इस तरह के प्रश्नोत्तर मैं अनेक दे सकता हूँ । पर उत्तर के साथ वह इस प्रकार मेरी ओर मुस्कराती थीं कि उत्तर पाकर भी मेरा प्रश्न मुझ में अनुत्तरित रहता था।

ख़ैर, हम लोगों ने एक बार वहाँ एक भारतीय समारोह का अयोजन किया। उसमें उर्वशी नाटक खेला गया। यह सूझ शरत् की थी, और वही उर्वशी बनी थीं। नाटक में उस अप्सरा के नृत्य पर सब मोहित हो गये। एक रात के प्रोग्राम को हमें कई रात चलाना पड़ा। वियना जैसे नगर में एक बार उसकी धूम हो गई थी और ख़ासी आमदनी हुई थी। आय का धन तभी एक समिति बना कर उसके अधीन बैंक में जमा कर दिया गया। शरत् भी समिति की सदस्या थीं। संभव है, उस उर्वशी-नृत्य और नाटक की प्रशंसा तब के योरुप के पत्रों में आप में से किसी ने देखी भी हो।

समारोह के बाद मैंने जो अपनी चीज़ें सम्हालीं तो उसमें एक रत्नमेखला नहीं पायी गयी। उर्वशी के कटिशृँगार के वह काम आई थी। उर्वशी-नृत्य को देखते समय मेरी निगाह अपनी मेखला पर ही जाकर पड़ती थी। मेखला बेश-कीमती तो थी ही, पर उस कटि-प्रदेश पर उसकी शोभा निराली जान पड़ती थी। उर्वशी की अंतिम लास्य-लीला पर वह मेखला कटि से खिसक कर भूमि पर आ पड़ी, ऐसा

अनुमान है। फिर उसका पता नहीं चला।

यह हानि छोटी नहीं थी। मैं अन्त में तो वैश्य था। कमाने आकर इस तरह खोने का वश मेरा न था। पर अब क्या किया जा सकता था ?

समारोह के बाद कुछ दिन तक शरत् बाहर कम दिखाई दी। उसके नाम की ख्याति थी और वह विशेष खुल कर न दीख सकती थी। निश्चय था कि आम जगह कहीं उसका पता चल जाय, तो सैकड़ों उँगलियाँ और उससे कई गुनी आँखें उसकी ओर उठी रह जायँ। अन्त में मैंने एक बार उसके घर जाकर उसके नृत्य की बहुत प्रशंसा की और कहा कि उसने विदेश में हम भारतीयों का गौरव बढ़ाया है।

वह मेरी ओर देखती रही, बोली—"आपकी मेखला नहीं मिली ?"

मैंने कहा—"छोड़ो, उस तुच्छ बात को क्या याद करती हो।'

बोली—"आपने पुलिस को ख़बर नहीं दी ?"

मैंने कहा—"हटाओ, उस बात को।"

शरत् ने कहा—"पुलिस अभी तक मेरे पास तो तलाशी के लिये नहीं आई ? आप कैसे व्यापारी हैं ?"

सुन कर मैं शरत् को देखता रह गया। कहा—"कैसी बात कहती हो ?"

बोली—"नाटक में उर्वशी ही न उसे पहिन रही थी ? पुलिस में कुछ बुद्धि है तो उसे मेरी तलाशी पहले लेनी चाहिए।"

कह कर वह मेरी आँखों में देखने लगी।

आभरण उस पर नहीं थे। वेष-भूषा संभ्रान्त भारतीय कुलोचित थी। पर मैं खुली आँखों से देख रहा था कि वह कोई शरत नहीं, वास्तव में उर्वशी ही है। नृत्य-मंच पर आभरणालंकृता उर्वशी कृतिम भी हो, किन्तु यह अद्भुत अलक्ष भाव से मेरे मोह को निमंत्रण देती हुई रूपसी शत-प्रतिशत अप्सरा उर्वशी ही थी। मैंने कहा—"शरत्, तुम उर्वशी हो। मेखला तो उर्वशी की कटि की ही थी।"

स्मित मुस्कान से बोली—'मेरी कटि पर वह बहुत सुन्दर लगती थी?'

मैंने कहा—'हाँ, बहुत ही सुन्दर लगती थी।'

सुन कर वह ज़ोर से हँसने लगी। बोली—'कटि के कारण वह सुन्दर लगती थी, या उसके कारण कटि सुन्दर लगती थी?'

सुन कर मैं क्षण भर स्तब्ध रह गया और वह ज़ोर-ज़ोर से हँसती रही। फिर बोली—'आप पुरुषों में जौहरी हैं और पारखी हैं।'

कह कर फिर उसी तरह ज़ोर से हँसने लगी।

उस समय मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा था और मैं शरत् को देखते रहने के सिवा और कुछ भी नहीं कर सका।

इतने में मेरे रहते पुलिस के दारोगा भी वहाँ आ गये। उन्होंने मुझे नमस्कार किया और शरत् से पूछताछ की। फिर पहले मुझ से और शिष्टता के नाते शरत् से भी अनुमति लेकर उसके स्थान की तलाशी ली। कहीं कुछ नहीं मिला और दारोगा अत्यन्त शिष्टता और मिष्टता के साथ क्षमायाचनापूर्वक वहाँ से विदा हुये।

उसके बाद शरत् मुझसे बोली—"पुलिस न पता लगा सकी, तो आप क्या कीजियेगा ?"

मैंने कहा—"गई है, तो जाने भी दो। अब उसका सोच-विचार क्या।"

बोली—"आपने पिता को ख़बर दी थी, उन्होंने क्या लिखा ?"

मैंने कहा—"उनका तार आया है कि मैं दूकान पर पेरिस लौट जाऊँ और चार्ज़ सम्हाल कर एक महीने में भारत आ जाऊँ।"

शरत् ने पूछा—और पत्नी ने ?"

मैं इसके लिए तैयार न था। मैंने कहना चाहा "कि शरत्—"

लेकिन बीच ही में वह बोली—"जिसके प्रेम में हिसाब है, उसे पत्नी ज़रूरी है।" खिन्न न होइये कि आपने झूठ में पत्नी को स्वर्गीय कहा था।

सुन कर सन्न रह गया। वह कह कर उसी तरह ठहाके से हँसने लगी। बोली —"पत्नी ने कुछ तो लिखा होगा ?"

मैंने कहा—"शरत् तुम क्या कहना चाहती हो कि मैं यहाँ फिर न आऊँ ?"

शरत् गम्भीर हो आई। बोली—"नहीं सत्य, मुझे तुम से सहानुभूति है। मेखला बहुत कीमत की होगी। मेरे पास यह चीज़ मुफ़्त की है। इससे कुछ तो तुम्हारा घाटा पूरा होगा।"

यह कह कर गले से कंठहार उतार कर उसने मेरे सामने रख दिया। फिर बोली—"मुझे अफ़सोस है कि मेरे पास और कोई

आभूषण नहीं है, घाटा भरने को मैं स्वयं ही रह जाती हूँ।"

मैं हतबुद्धि होकर उसकी ओर देखता रह गया, कहा—"यह क्या है शरत्?"

शरत् कुछ देर चुप रही, फिर बोली—"मुझे लेकर घाटा तुम्हारा नहीं भर जायगा?"

मैं उस समय अवसन्न भाव से शरत् को देखता रह गया।

जाने किस भाव से वह बोली–"मुझ को एक बार फिर उर्वशी कहना चाहते हो? कहो, तुम उर्वशी को चाहते हो? चाहो तो यह हो सकता है। लेकिन उसके लिए जो आभूषण तुमने दिये थे, वह सब फिर यहाँ दे जाना होगा। बोलो, क्या कहते हो?"

मैं आप लोगों से इस समय मन की बात कह रहा हूँ। सुन्दरता की कोई परिभाषा नहीं है। सुन्दरता स्थिर नहीं है। इसी से नहीं है कि वह जड़ नहीं है, अर्थात् वह प्रतिक्षण तरंगमान है। स्वयं अपने वेग से उसमें लहरें उठतीं और आपस में निरन्तर टकराती चाँदनी बिखेरती रहती हैं। उसमें नियम नहीं है, अनियम ही उसका नियम है। मानो भीतर से कुछ उठ कर देह के तट से पछाड़ें खा-खाकर टकराता और देह में एक सिहरन की तरङ्ग फैला जाता है। इस तरह सुन्दरता का देह पर जितना आभास है, उससे कहीं अधिक हृदय में उसका निवास है। शरत् को उर्वशी रूप में देखा, तब यह बात सहसा ही मेरे निकट आविष्कृत हो आई थी। कभी एक भाव तो उस चेहरे पर मैंने पाया ही नहीं। ताल और लय में परस्पर एक गति, पर्त पर पर्त देती हुई, उस

समस्त गात्र पर मानो प्रत्यक्ष थिरकती दीखती थी। उस लहर-लहर सलिल की-सी तरङ्गमानता को मैं आँखें खोले देखता रह गया था। सोचता था कि आँखों ने जो तब देखा, क्या वह फिर भी कभी देखना भाग्य में हो सकेगा? लेकिन शरत् के उस प्रस्ताव पर मैं आश्चर्य से कह उठा—"शरत् क्या कह रही हो?"

शरत् हँस कर बोली—'उर्वशी रत्नाभरणों से कम ही है, सत्याचरण तुम समझदार हो।'

मैंने कहा—'रत्नाभरण यहीं दे जाऊँ? या वहाँ मेरे यहाँ आकर भी पहिन सकती हो।'

शरत् खिल-खिलाकर हँस आयी। बोली—'सत्याचरण तुम समझदार हो, बहुत समझदार हो।'

मैंने कहा—'अच्छा, यहीं दे जाऊँगा।'

बोली—'न, ना, ऐसा कभी न करना। मेखला खोकर क्या तुम्हारा जी नहीं भरा है? जाओ, पिता के पास लौट जाओ, यहाँ क्या पड़े हो?'

मैंने कहा—मैं सब चीजें अभी लाये देता हूँ।'

बोली—'पागल तो नहीं हुए हो! समझदार होकर मूर्ख न बनो। धरती पर कहीं उर्वशी है? है, तो छल है।'

मैंने तब आविष्ट होकर कहा—'एक क्षण का छल ही सही, शरत्। अभी ला रहा हूँ।'

वह मानो व्यंग से बोली—'यथार्थ को भ्रम पर मत गँवाओ, सत्याचरण। उर्वशी मरीचिका है।'

मैं शरत् को एकटक देख रहा था। वह परम दुर्लभ तब सुलभ लग आई थी। मैंने कहा—'तुम जो कहो लाये देता हूँ। अब कभी भी हिन्दुस्तान लौट कर मुझे क्या करना है!'

सुन कर शरत् मुस्काई।

मैंने कहा—'उर्वशी के लिए कहाँ व्यवस्था करनी होगी? क्या साथ संगीत का भी प्रबन्ध चाहिएगा?'

शरत् बोली—'एक मेखला को खोकर सम्हल जाओ, सत्या-अचरण! कुछ व्यवस्था नहीं। दूकान होते हुए जाओ अपने घर लौट जाओ।'

मै उसकी इस तरह की बातों से आवेश में आता जा रहा था। मैंने मेज़ पर पड़े उसके हाथ को अपने हाथ से ढँक लिया। कहा—"मैं घर नहीं जाऊँगा।"

शरत् ने मेरे हाथ में से अपना हाथ नहीं खींचा। वह हाथ शीतल था। उसमें एक अँगूठी भी नहीं थी। वह हाथ, निश्चेष्ट और अनुवर्त्ती, मेरे हाथ के नीचे दबा रहा। वह वहीं बैठी हुई मेरी आँखों में देखने लगी। हाथ हटा कर मैंने फिर अपने ओठ उसके हाथ पर रख दिये। वह उसी तरह निश्चेष्ट बैठी रही। मेरा ज्वर चढ़ता जा रहा था। मैंने कहा—"शरत्!"

वह मानो विस्मृत विस्मित आँखों से सामने देखती हुई चुपचाप बैठी रही।

मैंने अपने दोनों हाथों में उसके उस हाथ को अधिकार में करके ज़ोर से दबाया और छोड़ दिया। ऐसा लगा कि वह रोने को

होकर एक साथ मुस्करा आई है। फिर वह ज़ोर से हँस पड़ी। बोली—"अब आप घर नहीं जायँगे? पर मुझे डाक्टर की हाज़िरी देनी है।"

कह कर अपने हाथ से मेरा हाथ दबाया और वह उठ खड़ी हुई।

मैंने कहा—"वहाँ आओगी?"

वह मुसकराती हुई दूसरे कमरे में चली गई। उस समय अपने लिये कुछ शेष न पाकर मैं चल कर अपने स्थान पर आ गया।

शाम को अपनी जगह से मैंने फ़ोन किया। पर शरत् फ़ोन पर न आ सकी। अनन्तर मैंने चिट्ठी भेजवाई कि मौसम सुहावना है, आओ तो गपशप हो, या सैर को चल सकते हैं। मैंने इधर सोचा था कि जब तक ज़रूरी न हो, आभरण वहाँ शरत् के यहाँ पहुँचाने से क्या फ़ायदा? यों चीज़ें खोने को मै तैयार हो गया था। लेकिन हवा में तो उन्हें नहीं गँवा सकता था। शरत् की ओर से कोई उत्तर नहीं आया। तीन-चार रोज़ तक वह नहीं आई। मैं अधिकतर अपने कमरे में ही रहता था। चार-पाँच रोज़ बिता कर मैंने सोचा कि मैं बेवकूफ़ तो नहीं बन रहा हूँ! गुस्से में आभूषणों के सब डिब्बे लेकर मैं उसके स्थान पर पहुँचा। पर वह वहाँ नहीं थीं। मैं डिब्बों को वहीं एक पत्र के साथ छोड़ आया। लेकिन वे सब अगले रोज़ मेरे यहाँ वापस आ गये। साथ ही एक चिट पर सिर्फ़ 'विद थैंक्स' लिखा हुआ था। मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ और टेलीफ़ोन पर मैंने बात करने की कोशिश की। पर एक भी बार शरत् फ़ोन पर नहीं आई।

मुझको इतना बुरा मालूम होता था कि मैं कमरे से बाहर नहीं निकलता था। सोच लिया था कि वियना छोड़ कर जल्दी पेरिस चला जाऊँगा। बस, यही था कि एक बार वह मिल जायँ, तो मन की कह-सुन लूँ, कि वह भी याद करे कि कोई मिला था। इतने में एक रोज़ बड़े से लिफ़ाफ़े में डाक से मुझे निमंत्रण का कार्ड आया कि उर्वशी का खेल फिर किया जायगा, मैं कृपया पधारूँ।

इस बात से मैं बेहद चिढ़ गया। मुझ से किसी प्रकार की सहायता नहीं ली गई थी। यहाँ तक कि मुझे सूचना तक नहीं थी। मैंने सोचा कि नाटक देखने नहीं जाऊँगा। तय किया कि तिथि से पहले ही पेरिस चल दूँगा। लेकिन वह कुछ भी न हुआ। दिन आया और मैंने अपने को नाटक में पाया। परदा उठते ही देखता हूँ कि उर्वशी खड़ी है और कटि पर वही रत्नमेखला खेल रही है। मैं मन ही मन जानता था कि हो न हो, रत्नमेखला खोने में शरत् का हाथ अवश्य है। मुझे इस पर विस्मय न था। ऐसी कथाएँ सुनी थीं, एकाध अनुभव भी जीवन में पा लिया था। लेकिन वह यहाँ तक ढिठाई करेगी, ऐसी कल्पना मुझे नहीं थी। जो हो, उर्वशी पर से मैं टकटकी न हटा सका। उसकी अंग-भंगिमा पर मुझे अति विस्मय हुआ। मानो इस देह में अस्थि कहीं हो ही नहीं। एक साथ शरीर में कई तोड़ देकर जब वह थिरकती थी, तो मैं मान न पाता था कि उसका गात्र स्वप्न और स्वर्ग का बना नहीं है। मेरी इसी विमुग्ध अवस्था में कोई एक डिब्बा मेरी गोद में रख गया। परदा गिरा तो आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि डिब्बे में मेरी वही रत्नमेखला रखी हुई है।

साथ चिट पर उन्हीं अक्षरों में लिखा है 'विद थैंक्स'। गुस्से में झल्ला कर मैंने बक्स को बंद कर दिया। अनन्तर फिर परदा उठा और मैंने देखा कि वही उर्वशी उसी रूप में उपस्थित हैं और रत्न-मेखला उसी भाँति कटि पर शोभित है। मैं अपनी आँखों पर विश्वास न कर सका। पर किसी तरह के विश्वास या अविश्वास का अवसर न था। नृत्य में नाना भङ्गिमाओं में लीलायमान उर्वशी की झिलमिल देह पर से मैं आँख नहीं उठा पाता था। नाटक के बीच-बीच में दूसरे प्रकार के दृश्यों का भी समावेश था। ऐसे ही समय मुझे एक चिट लाकर दी गई जिस पर लिखा था—'उर्वशी'।

उर्वशी ने मुझे बुलाया था। मैं चिट लानेवाले के साथ जाकर पाता हूँ कि 'ग्रीन रूम' में वह मेरी प्रतीक्षा में है। वह अकेली है और उसने साज नहीं बदला है। स्वर्ग की अप्सराओं का परिधान कैसा है, इस दशा में मनुष्य की कल्पना ने सदा बताया है कि वह और जैसा भी हो, अत्यन्त स्वल्प और पारदर्शी अवश्य होता है। उर्वशी को उस रूप में अपने उतने निकट खड़ा देखकर मैं अपने को भूल कर गड़ा-सा रह गया। मुझे पसीना आने लगा।

उर्वशी ने कहा—"आइये, यही न आपकी मेखला है? लीजियेगा?"

कह कर उसने करधनी को कटि पर से खोलना आरम्भ किया।

खोलते-खोलते हँस कर कहा—"कटि से अलग होने पर ही न लीजियेगा?"

मुझे उस समय कुछ भी कहते न बन पड़ा।

उर्वशी ने अपने दोनों हाथों से पकड़ कर मुझे कुरसी पर बिठा लिया। उस समय मैं अवश ही हो रहा। मैंने अनुभव किया कि उसकी श्वास मेरी साँस के साथ एक होकर ऊपर जा रही है। वह बोली—"उर्वशी आपकी बहुत कृतज्ञ है। आपने उसकी कटि को इस रत्न-मेखला का शोभा-दान दिया।"

मैं अपनी आँखें उर्वशी पर से हटा नहीं सकता था। उसने कटि मेरी ओर कर के कहा—"कहीं इसका टाँका उलझ गया है, खुलता नहीं है। आप कृपया खोल सकते हैं?"

मेरी उस समय क्या हालत थी, मैं कह नहीं सकता। उर्वशी मानो सहसा मर्मान्तिक पीड़ा से उद्धार पाती हुई बोली—"या आप इसे इसी कटि पर रहने दे सकते हैं?" मैं चुप ही रहा।

अनन्तर आप ही चमक कर वह बोली—"ओह, आपके हाथ में यह क्या है? अपनी उर्वशी के लिए लाये हैं?"

कह कर उसने अपने दोनों हाथ मेरी ओर बढ़ा दिये और नतजानु होकर मेरे सामने बैठ गई।

नाना सुगन्धित पुष्प-हारों और अलंकारों से युक्त स्कन्धमूल तक खुली उस बाहुयुग्म को अपनी ओर बढ़े देख कर मैंने अपने हाथ आभूषण का डिब्बा अनायास उसके हाथों में रख दिया। मुस्करा कर उसने कहा—"उर्वशी आपकी कृतज्ञ है। यह उसी का है न?"

मेरे कण्ठ से उस समय क्या निकला, यह मुझे ज्ञात नहीं; पर 'नहीं' तो निकल सकता ही नहीं था! उसने झुक कर डिब्बे को, मेरे पैरों से छुआया फिर अपने माथे से लगा कर मुस्कराती और

नृत्य करती हुई उर्वशी मुझे अकेला छोड़ वहाँ से अन्तर्धान हो गई।

बन्धुओ, आगे कहने की मुझे आवश्यकता नहीं है। टिकटों की आय के साथ वह रत्न-मेखला भी समिति के कोष में जमा की गई और मैं पेरिस आने की तैयारी करने लगा। चलते समय शरत् ने मेरे हाथों को चूम कर कहा—'सत्याचरण, तुम बड़े अच्छे हो!'

अब मित्रो, स्पष्ट है कि मैं मूर्ख बना। पर चलते समय कुछ नहीं जान सका। मैं रोष तक अपने साथ नहीं रख सका। मानो शरत् वह न थी, जो थी। कई बार विस्मय से मैं सोचता रह गया हूँ कि क्या यह भी सम्भव है कि जिसके हाथों व्यक्ति मूर्ख बने, उस पर भीतर से तिरस्कार और रोष भी न कर सके? पर शायद कुछ प्राणी ही ऐसे महामूर्ख होते हों कि खुलने के लिये उन के पास कोई समझ नहीं होती। पर मुझे शरत् ने समझदार कहा था। सोच उठता हूँ कि क्या वह समझदारी ही न मेरी वास्तविक मूर्खता थी? जो हो, मैं उर्वशी को भूल नहीं सका।

इस बात को बारह वर्ष हो गये हैं। आज का यह अख़बार आपके सामने है। सर दीनेश्वर सेन के देहान्त की ख़बर आप दो सप्ताह पहले पढ़ चुके हैं। आज वियना की ख़बर है कि पति के बाद जीने की इच्छा के अभाव में शरत्-पूर्णिमा ने अपनी जान लेकर फलभोग के लिये भगवान् के समक्ष कर दी है!

मित्रो, क्या आप मेरी इस कामना की रक्षा करेंगे कि हम सब उस स्वर्गीया की आत्मा की अखण्ड शान्ति के लिये परमात्मा से प्रार्थना करें?

पूर्ववृत्त

अदालत में आज बड़ी भीड़ है। अखबारों में इसकी खूब चर्चा है। मामला यह है कि प्रशान्त का कहना है कि शान्ति उसकी विवाहिता है। और शान्ति का दावा है कि यह सब उसके पिता से पैसा ऐंठने का उपाय है। उसने अखबार में यह छपा कर कि मेरा उससे विवाह हुआ है, मुझे बदनाम करने की कोशिश की।

दावा शान्ति की ओर से है। प्रशान्त के साथ दूसरा अभियुक्त अखबार का सम्पादक है जिसने यह खबर छापी है।

सम्पादक ने कहा कि प्रशान्त ने खुद उसकी रिपोर्ट दी थी। प्रशान्त को मैं तीन वर्ष से जानता हूँ। कोई वजह नहीं कि मैं उसकी रिपोर्ट झूठ समझता। वह मौतबिर आदमी है, ग्रेज्यूएट है, और मेरे अखबार में अक्सर लेख-कविताएँ लिखता है। मैं निजी बातें अक्सर नहीं छापता, लेकिन मुझे बताया गया कि लड़की के पिता जबरन उसकी शादी करना चाहते हैं। जब्र नामुनासिब है।

ऐसी अनीति को रोकने के लिये अख़बार न हों तो क्या हो ? इस ख़याल से मैंने ख़बर छापी थी। उस वक्त मैं वैसा करना सही और मुनासिब मानता था। लेकिन अगर वह बात ग़लत है और मुद्दई को सदमा पहुँचा है तो मुझे उस पर अफ़सोस है।

प्रशान्त ने अदालत में पत्र पेश किये। कहा कि मैं अध्यापक हूँ। मेरी संस्था थी और उसमें ये पढ़ने आया करती थीं। पढ़ने से अधिक पढ़ाने आया करती थीं। नहीं, वेतन नहीं लेती थीं। फ़ीस ह्वां देती थीं। उन का मुझ से प्रेम हुआ।

शान्ति ने इस पर अपने स्थान से कुछ कहा, जिसे ठीक तरह नहीं सुना जा सका।

उस पर प्रशान्त कुछ उत्तर देने को था। लेकिन अदालत ने सब को चुप किया। और प्रशान्त को अपना बयान जारी रखने को कहा।

प्रशान्त ने कहा—मैं प्रेम के लिये अपने को दोष नहीं दे सकता। उस का यह कहना कठिन है। मेरी अवस्था ३५ वर्ष है। पत्नी है, बारह वर्ष की एक कन्या है। अदालत में जो पत्र हैं लड़की ने स्वयं लिखे हैं।

पूछा गया 'उन से तुम क्या सिद्ध करना चाहते हो ?

"प्रेम नहीं, विवाह साबित करना है।"

उत्तर में उसने कहा, "उन पत्रों से मेरे प्रति उसकी भावना का पता चल सकता है।

आगे प्रशान्त ने अपना बयान जारी रखते हुए कहा—प्रेम

एक छल हो सकता है। मैं इतना युवक नहीं हूँ कि इस बात को न समझूँ। फिर भी मैं उस का निरादर नहीं कर सकता। मेरा विवाहित जीवन सुन्दर नहीं है। आरम्भ शायद हम में सहानुभूति से हुआ। मैंने अपनी घर की हालत बतलाई। अपने स्वप्न बतलाये। मैंने कहा कि मुझ को समझने वाला जीवन-संगी कोई होता तो मैं कितनी न उन्नति करता। सहानुभूति की माँग जीवन में स्वाभाविक है। युवावस्था में सहानुभूति सुलभ भी है। वही शायद साधन होकर प्रेम में परिणत हो गयी। पत्रों में आप देख सकते हैं कि प्रेम के स्थायी होने की शपथें हैं। मैंने सुझाया कि प्रेम स्वयम् पवित्र है। पर विवाह से वह व्रत हो जाता है। वह विवाह के लिये भी राज़ी हुई। लेकिन उसने कहा कि माता-पिता इसमें साथ नहीं देंगे, क्या हममें प्रेम ही काफ़ी नहीं है? और मन में तब वह माता-पिता और समाज से डर रही थी। मैंने कहा कि भय उचित नहीं और विवाह होना ज़रूरी है। मैं विवाह को अन्तिम तो नहीं मानता,पर मन की रोक-थाम के लिये एक मर्यादा अच्छी है। व्यवस्था में भी उससे सुभीता होता है। नहीं, यह ग़लत है कि मेरी निगाह इसके पिता के पैसे पर थी। समझौते के लिये उन की ओर से पैसे की बात एक से अधिक बार आयी। मैंने कभी स्वीकार नहीं किया। ख़ैर, मैं इस बात पर राज़ी हुआ कि विवाह विधिवत हो, हम लोग एकान्त भगवान् को साक्षी कर एक दूसरे का हाथ थाम लें। वैसा ही हुआ। हम अब सम्मिलित रहने का उपाय सोच रहे थे। लेकिन अचानक यह मामला आ गया है। मेरा विश्वास है कि लड़की अपनी ओर से कुछ

नहीं कह रही है। सब माता-पिता के दबाव से किया जा रहा है। उसे इसके लिये मारा-पीटा तक गया है। मैं मानता हूँ कि अगर वह अपने मन की बात कह सके तो आप पायँगे कि मैंने अपने बयान में कोई अत्युक्ति नहीं की।

प्रशान्त के बयान के बीच बीच में लोग ताना कसते और हँसते थे। और इस्तगासे के वकील की जिरह में प्रशान्त झेंप कर लाल पड़ आया। उस में इस तरह के भी सवाल थे कि जैसे, क्या तुम अपने को खूबसूरत नौजवान समझते हो? क्या अमुक जगह से तुम्हें·········इत्यादि।

इसके बाद सफ़ाई के वकील ने शान्ति से पूछताछ की; उसने जो जवाब में कहा, यह है।

"मैं अभियुक्त को एक बरस से जानती हूँ। मेरी एक सहेली ने इसके स्कूल का पता दिया था। हाँ, यह मेरे हैं। यह प्रेम-पत्र नहीं है। प्रेम इनके लिये मुझ में नहीं हो सकता। जो विवाह करके एक स्त्री से मुँह मोड़ लेता है, वह दूसरी से प्रेम निभायगा, इसका विश्वास नहीं है। मैं यह बात शुरू से जानती थी। इन की संस्था में पढ़ती थी, इस से इन्हें नाखुश नहीं कर सकती थी। इसलिये यह पत्र लिखे गये हैं। सिरे से ही जब वे पत्र बनावटी हैं, तो उन में खूब बढ़ी-चढ़ी भाषा लिखी गयी हो तो उस में अचरज क्या है? विवाह की बात सरासर झूठ है। यह इसी से ज़ाहिर है कि मैंने विवाह की हर विधि से इन्हें विमुख किया। भगवान् की साक्षी में आपस में हाथ पकड़ने की बात भी इन को बहलाने की हुई है। मुझे परीक्षा

पास करनी थी। मेरा अब इन से कोई वास्ता नहीं है। मैं इनसे नफ़रत करती हूँ।

प्रशान्त ने अपनी जगह से चिल्लाकर कहा—शान्ति, नफ़रत करती हो?

इस पर कमरे में कुछ गड़बड़ी मची और अदालत ने व्यवस्था स्थापित की।

शान्ति ने बिना उस ओर ध्यान दिये कहना जारी रखा कि नफ़रत करना अच्छा नहीं है। यह मेरे मास्टर हैं। मैं समझती थी कि यह दुःखी हैं। कुछ अपने स्वार्थ से और कुछ दया से मैं इनका मन रखती रही। पर नहीं जानती थी कि यह इतने धूर्त निकलेंगे।

धूर्त शब्द पर सफ़ाई के वकील ने आपत्ति की। और एक दस्तावेज़ सामने किया। कहा—मेरा मुवक्किल इस बात को इस हद तक नहीं लाना चाहता था। यही उसकी नेकनीयती का सबूत है। लेकिन जैसा कि इस दस्तावेज़ से जाहिर होता है, शादी गवाहों के सामने बाकायदा की गई थी। मुवक्किल दस्तावेज़ को जानबूझ कर इसलिये पीछे रखना चाहता था कि मुद्दई को सदमा न पहुँचे और बिना इसकी ज़रूरत पड़े, वह सब कबूल कर ले। धूर्त शब्द वापिस लिया जाना चाहिए।

शान्ति ने कहा—यह दस्तावेज़ आ गया है तब तो मैं धूर्त शब्द को और भी वापिस नहीं ले सकती। यह काम धूर्त ही कर सकते हैं।

लोगों ने इस बात में बहुत दिलचस्पी ली; यहाँ तक कि शोर

मच आया। अदालत ने शान्ति स्थापित की। अनन्तर उस दस्तावेज़ को लेकर शान्ति से जिरह की गयी। जिरह में शान्ति हटतीसी मालूम हुई। उसने पहले कहा कि उसके दस्तख़त बनावटी हैं। फिर कहा—हो सकता है किसी कोरे काग़ज़ पर उसने दस्तखत किये हों। लेकिन पंडित के हाथ शादी होने की बात सच नहीं है। फिर, मन नहीं तो वह शादी क्या? यह धूर्तता है कि यह दस्तावेज़ सामने लाते हैं। इन्होंने वायदा किया था कि कभी इसका इस्तेमाल न होगा। कभी यह किसी को दिखाया न जायगा। दस्तख़त, हाँ, मेरे हैं, लेकिन यह आदमी कमीना है।

शान्ति इधर-उधर की कहने लगी थी। उस प्रलाप से साफ़ था कि दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर उसके हैं। और कागज़ से प्रमाणित था कि विधिवत पंडित ने दो साक्षियों के समक्ष इनका विवाह कराया है।

शान्ति ने कहा, दस्तख़त होने पर भी, दस्तावेज़ झूठे हैं और मैं हरगिज़ इनके साथ नहीं रह सकती।

सफ़ाई के वकील ने अपना सारा ज़ोर दस्तावेज़ पर डाल दिया और उसके सिलसिले में गवाहियों के लिये केस को अगली तारीख़ दी गयी।

अदालत उठते समय शान्ति अस्थिर थी और प्रशान्त का मुँह नीचे झुका हुआ था। वह किसी ओर देख नहीं रहा था।

प्रशान्त ने बहुत चेष्टा की पर शान्ति से मिलना सम्भव न हुआ। न संदेश भेजा जा सका।

शान्ति अब मानो पहरे में रहती थी। बाहर लोगों में उसकी चर्चा थी, और पिता बहुत परेशान थे। प्रशान्त को समझाने या दबाने के सब प्रयत्न निष्फल जा चुके थे। अब वह भी सोच बैठे थे कि इज़्ज़त तो गयी ही; तो बात को बीच में न छोड़ेंगे। राह न मिलने पर शान्ति को वह दो-एक बार पीट भी चुके थे।

स्थानीय पत्रों की सहानुभूति शान्ति की ओर थी। पर बात का जग-ज़ाहिर होना उन्हें खलता था। तो भी उन्हें विचार होता था कि शायद इस प्रकार की ख्याति में से ही लड़की के भविष्य का कोई मार्ग निकल आये।

ऐसे ही समय एक सार्वजनिक पत्र के सम्पादक उनके पास आये। उन्होंने कहा कि वह उनकी कन्या की दृढ़ता से प्रभावित हैं। और उस से स्वयम् मिलकर वातावरण को साफ़ करने में मदद देना चाहते हैं। बहुत समझाया तो पिता मुलाक़ात के लिये राज़ी हो गये।

शान्ति विस्मय में हो आई; जब देखा कि सम्पादक के नाम पर प्रशान्त के मित्र देवचन्द्र उसके सामने उपस्थित हैं। पर इसका आभास उसने किसी को नहीं दिया।

पिता ने कहा—आप पन्द्रह मिनट ही चाहते हैं न? यह कह कर वह वहाँ से हट गये।

देवचन्द्र ने कहा—शान्ति तुम्हारे मन की बात पूछने प्रशान्त ने मुझे भेजा है।

शान्ति ने कहा—वह मेरी ख्वारी काफ़ी कर चुके, अभी और बाकी है?

देवचन्द्र ने कहा—शान्ति उसने क्या किया है ?

शान्ति—नहीं, सब मैंने ही किया है।

"अब तुम क्या चाहती हो, शान्ति ? प्रशान्त ने तुम्हारे मन की बात जानने को मुझे भेजा है। वही वह करेगा।"

शान्ति ने कहा—मुझे क्या अब कहीं जीती रहने लायक उन्होंने छोड़ा है। उनको इतनी शर्म नहीं कि मैं दावा कर रही हूँ तो चुप हो रहें ?

देवचन्द्र ने कहा—तुम चाहती हो कि दोषी बन कर वह चुपचाप जेल चला जाय ? वह आप तो अदालत नहीं आया, घसीटा गया है। तो सफ़ाई भी न दे ?

शान्ति—मेरे लिये वे जेल नहीं जा सकते ?

देवचन्द्र ने विस्मय से कहा—उसे जेल भेज कर तुम क्या पाओगी ?

शान्ति ने कहा—तब सुभीता होगा और पिता मेरी शादी कर सकेंगे। बाहर रह कर वह यह न करने देंगे।

"क्या कह रही हो शान्ति, क्या तुम यही चाहती हो ?"

"हाँ, चाहती हूँ कि जो होनहार हो, वह मुझ पर से हो जाय। वह क्या इतना नहीं समझ सकते ? मैंने पहले भी उन्हें समझाना चाहा। नहीं समझे तो अब अदालत की नौबत आ गयी है। मैं अपने वश की नहीं हूँ। नारी-धर्म में स्वतन्त्र कुछ नहीं होता। पिता जब तक पति को सौंपे, कन्या तब तक उसकी है। सुनते हो ? कुछ और नहीं हो सकता इससे अब यही है कि मेरी

ख़ैर चाहते हैं तो वह जेल चले जाँय।"

"शान्ति, लेकिन उसके साथ एक और बेगुनाह आदमी—"

शान्ति ने कहा उसका कुछ न बिगड़ेगा।

देवचन्द्र ने घड़ी की ओर देखा। समय जा रहा था। उसने जेब में हाथ डाला पर शान्ति की आँखों में इनकार का इशारा देखकर वह हाथ उसने खींच लिया। वह समझता था कि कहीं अदृश्य से दो आँखें उन्हें देख रही हैं। उसने धीरे से कहा—"देखो, मैं मित्र की ओर से अन्तिम बार तुम से कह रहा हूँ। वह तुम्हें, तुम्हीं साफ़-साफ़ न कहो, तब तक नहीं छोड़ सकता। तुम्हारे बिना उसे सब सूना है। दूसरी बात यह कि जो तुम कहोगी, वही वह करेगा। तुम कह दो कि मन से उसे नहीं चाहती हो; दूसरा विवाह चाहती हो, तो वह आपत्ति न करेगा। वह जो कुछ कर रहा है, इस विश्वास पर कि तुम्हारा मन उसकी तरफ़ है, माता-पिता के दबाव से ज़ाहिर में फिर तुम कुछ भी करो—अगर ऐसा नहीं है तो कहने भर की देर है कि—"

शान्ति—"मन की बात वृथा है। उन्हें कह देना कि मन पर दावा नहीं होता। और मेरी मानें तो अदालत की सज़ा ले लें और जाकर जेल में बैठें।"

देवचन्द्र ने कहा—"एक यही उपाय है?"

शान्ति ने कहा—"नहीं, दूसरा भी है। वह यह कि साबित कर दें कि मैं उनकी हूँ और अदालत के ज़ोर से माँ-बाप से मुझे छीन ले जाँय। पहला सज्जन का है; दूसरा दुर्जन का। अब वह

अपनी ओर देखकर चुन लें।

देवचन्द्र ने कहा—"शान्ति, तुम जानती हो कि तुम्हारा सम्बन्ध......"

शान्ति ने बीच ही में कहा—उसी सम्बन्ध के बल पर न उन्होंने मुझे व्यभिचारणी प्रसिद्ध कर छोड़ा। मुझे मँजूर है। मेरी कुछ इज्जत बची है कि मैं कहीं रह सकूँ? तुम्हारे मित्र को शर्म तो नहीं आई कि पत्र अदालत में पढ़वाते हैं। मेरी मानो तो उन्हें कह देना, मेरा होना था सो हो गया, पर भला चाहें तो दंड से बचें नहीं।

देवचन्द्र ने कहा—"शान्ति, अन्याय न करो। उसके दुख को तुम नहीं जानतीं। दुनिया उसके नाम को थूकती है। रोज़ी उसकी गई; अपने पराये हो गये। माँ तक ने छोड़ दिया। पत्नी तो उसकी थी कब? एक इसी आशा का उसे सहारा था कि तुम उसे मानती हो। पर जो तुम भी नहीं मानतीं तो उसके लिये सब ख़तम है।"

शान्ति ने क्रोध में कहा—"हाँ, मेरे पास कुछ नहीं है जो नष्ट नहीं हो गया। अब उन्हीं से पूछना कि क्या बचा है जिसे धूल में मिलाना और ज़रूरी है।"

देवचन्द्र कुछ कहना चाहते थे कि शान्ति ने संकेत किया। कोई आ रहा था। तब साधारण भाव से उन्होंने कहा—तो विवाह के सम्बन्ध में आप माता-पिता को पूर्ण अधिकारी मानती हैं और उनकी बिना अनुमति विवाह को जायज़ नहीं मान सकतीं?"

"हाँ, यदि माता-पिता ऐसा चाहें तो कन्या को झुकना चाहिये।"

इतने में शान्ति के पिता वहाँ आये। और उन्होंने यह सुना। बोले, "आपने देख लिया न कि सब उसी आदमी की धूर्तता है।"

देवचन्द्र ने कुछ हाँ-न किया, उठ कर उनका आभार माना और वहाँ से चले आये।

आकर प्रशान्त से सब कह सुनाया। प्रशान्त उस समय सोच में था। सुनकर और भी सोच में हो गया।

कुछ देर रुककर सहसा उसने कहा, "मैं पहेली सुलझा नहीं पाता हूँ, देवचन्द्र! तुम बता सकते हो, मैंने कहाँ भूल की?"

"नहीं मैं नहीं बता सकता।"

"तो वह चाहती है, मैं सज़ा लेलूँ।—तुम्हारी क्या राय है?"

"मेरी राय? मेरी राय है कि तन से ऊपर तुम्हें मन की कीमत हो, तो उसकी कही रक्खो।"

"वह चाहती है—"

"त्रास पाना और त्रास देना।"

प्रशान्त गम्भीर हो गया। बोला, देवचन्द्र मानता हूँ मैं कि युग बदल रहा है। मैंने विवाह-पूर्वक ही प्रेम को जो स्वीकारना चाहा, उसी का न यह फल है? देवचन्द्र वह लड़की एकदम अश्चली है।

देवचन्द्र ने कहा "मित्र, तुम्हारा मस्तक ठिकाने नहीं है।"

प्रशान्त ने उत्तेजित होकर कहा, "हाँ, शायद नहीं है। पर यह नहीं सहा जा सकता कि एक के साथ सम्बन्ध होने पर स्त्री अपना धर्म न निबाहे। शान्ति के बारे में और भी यह नहीं सहा जा सकता। यह अनीति नहीं होने पायगी, देवचन्द्र। माता-पिता को क्या इतनी हया-शर्म नहीं है?"

देवचन्द्र ने कहा, "अब मैं समझा कि भूल कहाँ है? यही है कि दूसरे का न्याय तुम अपने हाथ में लेते हो। शान्ति के चरित्र की रक्षा के नीचे कहीं तुम अपनी ही कामना को तो नहीं चाहते हो? शायद यही है, जिसने शान्ति को भड़का दिया है।"

प्रशान्त ने भँवें सिकोड़ कर कहा! "क्या मतलब" देव-चन्द्र ने हँसकर कहा! "कुछ नहीं; कुछ नहीं।"

प्रशान्त ने कहा "स्त्री के शील की हमारे यहाँ मर्यादा है। उसी पर हमारी संस्कृति और हमारे समाज का विधान खड़ा है। वही डिगेगा तो हमारे पास रह क्या जायगा? नहीं, वह न हो पायगा, देवचन्द्र!"

देवचन्द्र आँखें फाड़े प्रशान्त की ओर देखता रह गया। मित्र में संस्कृति के प्रति ऐसी उत्कटता समय-समय पर उठती उसने देखी है। लेकिन यह अवसर उसे अनुकूल मालूम हुआ। उसने कहा, "प्रशान्त, आज तुम्हें हो क्या रहा है? पत्नी रहते दूसरे से प्रणय और परिणय रचाते हो, तिस पर शील और मर्यादा की बात कहते हो। स्वार्थ को कहीं विवेक की भाषा पहिना कर तो बात नहीं कर रहे?"

प्रशान्त ने कहा—"शास्त्रों ने पुरुष को एकाधिक विवाह की अनुमति दी है।"

देवचन्द्र ने कहा—"शास्त्रों में जो खोजो, पाओगे। काम-धेनु हैं; इसी से वे शास्त्र हैं। पर शान्ति को तुम क्या समझते हो?'

"क्या समझूँ? अब तो समझना होगा कि वह कुटिल है।"

देवचन्द्र ने कहा—"सुनो प्रशान्त, तुम मेरे सामने उस को कोई अपशब्द नहीं कह सकते। सुनते हो?

सुन कर प्रशान्त देखता रह गया। कहा—"क्या?"

कहने के बाद देवचन्द्र के देखते-देखते एक व्यंगपूर्ण मुस्कराहट से उसका चेहरा बिगड़ आया।

देवचन्द्र ने कहा—"तुम अपनी निराश कामना में से उसे ठीक देख सकते हो, प्रशान्त?"

प्रशान्त ने कहा—"तो भी कुछ-कुछ देख सकता हूँ।"

उस बात में भरे व्यंग पर विस्मय से देवचन्द्र पुकार उठा; "प्रशान्त।"

देवचन्द्र के मुख पर व्यथा देखकर प्रशान्त कुछ प्रकृतिस्थ हुआ और कहा, "तो मैं क्या करूँ, बताओ!"

देवचन्द्र ने कहा—"व्यतीत की ओर से भविष्य के प्रति दावा न जताओ। मैं होता तो उसकी मर्ज़ी में अपने को छोड़ देता। प्रेम मिला, वहाँ से त्रास भी उसी कृतार्थ भाव से लेता।"

प्रशान्त ने भौंचक हो कर कहा—देवचन्द्र, सच कहो, तुम मेरे मित्र हो?"

देवचन्द्र ने कहा—"नहीं, यह मेरी बात मित्रता की नहीं, सत्यता की है। शान्ति परेशान है। एक तरफ़ माता-पिता उसे नहीं समझते, दूसरी तरफ़ तुम उसे नहीं समझना चाहते। दो पाटों के बीच उस की जान क्यों पीस रहे हो? माता-पिता के प्रति शान्ति उद्धत नहीं होना चाहती। तुम उसके त्रास को ले नहीं सकते। फिर बलिदान ही तो उपाय है। उसी ओर वह चल रही है। यह बात समझ लोगे तो फिर रोष नहीं कर सकोगे।"

प्रशान्त मित्र की बात नहीं सुन रहा था। वह दूर चला गया था। बल्कि उसे देवचन्द्र का बोलना बुरा मालूम हो रहा था। शब्द उसे शोर मालूम होते थे। उसने कहा—"देवचन्द्र, तुम नहीं जानते, मुझे आठ दिन से नींद नहीं आयी। रात दिन वही एक बात घूमती रहती है। यह सच नहीं है कि मेरी तकलीफ़ शान्ति को नहीं मिलती, पर यह सच है कि वह भी कष्ट में है। तुम बहुत जानते हो, पर क्या तुमने सहा है? जो मैं सह रहा हूँ, उसका सौवाँ हिस्सा भी सहा है?"

देवचन्द्र ने कहा—"कहना सहने का लक्षण नहीं है, प्रशान्त। लो, मैं चला।"

"देवचन्द्र, नाराज़ न होना। मेरा मन ठीक है। तो मेरी चिट्ठी उसने तुम्हारे सामने नहीं खोली? नहीं पढ़ी?" देवचन्द्र, मुझे विश्वास दिला सकते हो कि तुम मेरे मित्र हो?"

देवचन्द्र ने कहा—"प्रशान्त वृथा अपने को कष्ट न दो।"

प्रशान्त ने कहा—सुनो देवचन्द्र, मैंने सब तुम्हें नहीं बताया है। नौकरी गई ही। २०००) रुपये मैं माँ का बक्स तोड़ कर चुरा

लाया हूँ। करीब २०००) स्त्री के जेवर बेच कर बना लिये हैं। इतना ही सूद पर कर्ज़ मिल गया है। यह सब मुकद्दमे के लिये। मेरे लिए यह जान की बाजी है। लेकिन देवचन्द्र, मन अब बैठ रहा है। मेरा यह विश्वास छिन रहा है कि वह मुझे चाहती है। तब सब फ़िजूल है। मन का दुख क्या दूसरे के मन की चोट से भरेगा ? आदमी, देवचन्द्र ऐसा ही करता है। दुख को दुख पहुँचा के धोना चाहता है। रोज़ सोच रहा हूँ, देवचन्द्र। देखता हूँ कि यह आदमी का धोखा है। मेरी चिट्ठी का जवाब मिल जाता तो सब तय हो जाता। वह मन की बात सीधी मुझ से कहती क्यों नहीं ? जैसे मैं पराया हूँ। जैसे मैं सब कुछ नहीं देखता। देवचन्द्र, मेरी कसक यही है।

देवचन्द्र सुनता हुआ चुप रह गया। उस के मन में शान्ति की मूर्त्ति घूम आयी। पर, उसे लगा कि वह इस प्रशान्त के अतिरिक्त किसी की नहीं हो सकेगी। प्रशान्त यदि सब सहेगा तो शान्ति कहीं रहे, उसी की होकर रहेगी।

देवचन्द्र के जाने के बाद डाक से प्रशान्त को अपने पत्र का उत्तर मिला। लिखा था—

प्रिय,

मैं बहुत नाराज़ हूँ। अपनी रखो तो तुम्हें कसम है जो कुछ बाकी छोड़ो। मैं भी देखती हूँ, तब तुम क्या कर लोगे। मेरी रख सको तो अदालत में झूठ बोल कर मुझे और मेरे कुल को बचाना तुम्हारा धर्म है।

तुम्हारी—

शान्ति

अगली पेशी के दिन अदालत में सनसनी फैल गई, जब प्रशान्त ने कहा कि वह अपना अपराध स्वीकार करता है।

प्रशान्त ने शान्त भाव से कहना जारी रखा—"मैं स्वीकार करता हूँ कि मैंने झूठी ख़बर अख़बार में छपवायी। सम्पादक का दोष नहीं क्योंकि मैंने कहा, ख़बर सच्ची है और मैंने ज़ोर दिया कि इसे छापना सार्वजनिक हित होगा। मेरे मन में मुद्दई को तंग करने, बदनाम करने और मुमकिन हो तो इस तरह उसके बाप से रुपया वसूल करने की नीयत थी। मेरा पहला बयान सच न था। और दस्तावेज़ भी बनावटी हैं। पानी—"

गिलास से पानी पीकर कहा—"मुझे दुख है कि मेरे कारण एक सम्भ्रान्त कुमारी की बदनामी हुई और जिस सज़ा के लायक मुझे समझा जाय, मैं तैयार हूँ।"

शान्ति अपनी जगह कुर्सी पर बैठी थी। वह अपने पैर के अँगूठे से खुरचे जाते हुए फ़र्श को देख रही थी। वहाँ से हिली न डुली।। सब से बचकर पल भर उसने प्रशान्त की ओर विस्मय से देख लिया था। फिर झट निगाह नीची कर वह अपनी हथेली पर देखने लगी थी।

इस स्वीकारोक्ति के बाद केस के रुख़ को संभाला न जा सका और प्रशान्त को ६ महीने की सख़्त सज़ा हुई।

काँटा टला, पर शान्ति का विवाह सुगमता से न हुआ। अन्त में विज्ञापन दिया। शान्ति ने अपने सम्बन्ध के सम्बन्ध में कुछ भी जानने से इनकार कर दिया। उसने कह दिया कि वह पूरी

तरह माता-पिता के हाथ में है। अन्त में एक जगह रिश्ता पक्का करके तैयारियाँ शुरू हुईं। तिथि बहुत निकट आ गयी तब शान्ति ने अपने माता-पिता से कहा—"वह प्रशान्त की बात सच थी। और मेरा विवाह हो चुका है।"

पिता ने कह दिया कि—"वह विवाह न था।" और तैयारियाँ जारी रखीं। कह दिया कि तू अगर गड़बड़ करेगी तो मैं संखिया खा लूँगा। माता ने लड़की का पक्ष लेकर पिता को समझाया तो उन्होंने पत्नी को भी भला-बुरा सुना कर कहा कि यह विवाह न हुआ तो मैं संखिया खा लूँगा। जो कहीं तुम कुछ और सोचती हो।"

इस समय शान्ति ने माता के द्वारा अपने भावी वर को लिखा कि मैं कन्या नहीं हूँ और मेरा विवाह हो चुका है। आप मुझ पर दया कर सकते हैं। पर उसका विशेष फल दिखायी नहीं दिया।

अन्त में भवितव्य हुआ और विवाह सम्पन्न हो गया। विवाह के एक सप्ताह अनन्तर प्रशान्त जेल से आया।

देवचन्द्र जेल के द्वार पर ही प्रशान्त को मिला, कहा—"लो प्रशान्त मेरी प्रतिज्ञा भंग हुई और तुम झूठे हो। मेरे पास ज़िन्दा सबूत है कि तुम्हारा दस्तावेज़ सच था। बड़े मूर्ख हो। जेल तुम क्यों गये? मेरी प्रतिज्ञा तुड़ाने—खैर छोड़ो, यह कहो, मेरे साथ घर चल रहे हो न?

प्रशान्त सब से बचना चाहता था। अधिक ठीक कहें तो

सब को अपने से बचाना चाहता था। देवचन्द्र को अनायास भाव से मिलते देखकर उसे कुछ अचरज भी था। उसने कहा—"नहीं, मैं नहीं चल सकूँगा।"

देवचन्द्र ने यह उत्तर नहीं लिया और हठात् प्रशान्त को साथ चलना पड़ा।

कुछ जलपान और बातचीत के अनन्तर नववधू ने आकर प्रशान्त के पैर छुए और प्रशान्त ने आशीर्वाद दिया, मुख पर कुछ घूँघट था और प्रशान्त की दृष्टि अन्यत्र थी। किन्तु जब देखा कि वह शांति है, तब भी उसे विस्मय नहीं हुआ।

इस अविस्मित तटस्थ, दूरान्त दृष्टि पर टूट कर शान्ति प्रशान्त के चरणों में सिर डाल कर फूट उठी, कहा—"क्या अब मुझे नरक में ही रखोगे, क्षमा नहीं करोगे?"

प्रशान्त ने इस पर नववधू के मस्तक पर हाथ रखकर उसे अखंड सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद दिया।

तदनन्तर प्रशान्त लगभग दो वर्ष अपनी पूर्व पत्नी के साथ गृहस्थ में रहा, फिर उस ने सन्यास ले लिया।

महाप्रभु स्वामी शान्तानन्द का यही पूर्ववृत्त है।

परावर्तन

दिल्ली

८ अक्टूबर

प्रिय,

साथ का पत्र मैंने खोल लिया था, क्षमा करना। क्या भाई से कुछ कहा-सुनी हो गई। नहीं तो धर्मशाला में क्यों रहती हो? ज्ञान की पढ़ाई में हर्ज न हो रहा होगा? उस के लिये मैं व्यवस्था कर रहा हूँ। क्या उसका भी मेरे साथ न रहना ज़रूरी है। खैर, जो भी तुम सोचो। लेकिन अब भी हर तरह की बात मुझ से कह सकती हो। और मैं तुम्हारा हूँ।

—कृपादयाल

पुनः—

मालती को न आने के लिए ही न लिखोगी?

कृ०

———

लाहौर
२ अक्टूबर

मेरी प्यारी सखी शीला,

तुम तो मुझे भूल ही गईं। घर में जो दस काम हैं। लेकिन सच सच यह क्यों नहीं कहतीं कि हमारे भाई साहब से ही तुम्हें फ़ुर्सत नहीं मिलती। सुनती हूँ अब तुम लोग अपने नये मकान में आ गये हो। इन की एक महीने की छुट्टी हो रही है। बड़ी मुश्किल से राज़ी हुए हैं कि चलो प्रयाग-काशी हो आयें। तो अगर सब ठीक रहा तो महीना के आख़ीर में हम तुम्हारे यहाँ आएँगे, दिल्ली दिखाओगी न? दो रोज़ से ज़्यादा का वक्त नहीं मिलेगा। पत्र का जवाब ज़रूर देना। भाई साहब से फ़ुर्सत न हो तो निकाल लेना। ऐसी क्या तुम उन्हीं की हो गई, मुझे भी भूल जाओगी? भाई साहब पिछली बार लाहौर आये तो मिले थे। हमने कहा ठहरो, पर कौन ठहरता है। क्यों जी, तुमने उनके मन को ऐसा बाँध रक्खा है? बड़ी स्वार्थिन हो। ख़ैर आऊँगी तब देखूँगी। ज्ञान को प्यार।

तुम्हारी—
मालती

दिल्ली
६ अक्तूबर

श्रीमान् जी,

मालती के लिए साथ का पत्र है। उचित समझें तो

भेज दीजियेगा। आपकी चिन्ता के लिये मैं कृतज्ञ हूँ। लेकिन मुझे कोई कष्ट नहीं है। भाई के यहाँ से मैं खुद ही चली आई। धर्मशाला में और कई रहते हैं। कुछ जीवों को तो वह भी नसीब नहीं है। इस से चिन्ता का कारण नहीं है। इस महीने का रुपया मुझे अभी तक नहीं मिला है। मेरे नाम का रुपया मेरे हाथ में आप कर सकते तो कोई बुराई न थी। तो भी अदालत मैं नहीं करूँगी। सब आप की न्याय-बुद्धि पर है, जो चाहें सो करें। मैंने ज्ञान को समझाया है कि बेटा, माँ के साथ तो तू दुख ही उठायगा। बाप के साथ आराम से रहेगा और क़ाबिल बनेगा। पर वह मुझे छोड़ता ही नहीं है। आप उसे ले जा सको तो मुझे छुटकारा हो। पर घर पर मत रखना। उसे नई माँ से डर लगता है। किसी बोर्डिंग में दाखिल कर सकते हो।

आपकी कोई नहीं

—शीला

पुनः—

आप चाहें तो मालती को आने को लिख सकते हैं। कह दीजिएगा कि मैं मायके या कहीं गई हूँ।—शी०

दिल्ली

६ अक्टूबर

मेरी चाँद-सी बहिन मालती,

मुद्दत बाद तुम्हारा पत्र मिला। चलो शीला की याद तो आई। तुम आ रही हो जान कर बड़ी खुशी हुई। मकान

नया है और खूब जगह है । तुम आतीं तो धन्य हो जाता । पर जो तुम ने आने के दिन लिखे हैं उन में ठिकाना नहीं है। शायद कहीं बाहर जाना पड़े । कोशिश करूँगी कि ऐसा न हो । तब तुम्हारे भाई साहब तार दे देंगे । और तुम ज़रूर आ जाना । बाहर जाना पड़ा तो मेरा दुर्भाग्य है, लेकिन फिर बड़े दिन की छुट्टियों में दो रोज़ को ज़रूर आना। मालती, तू कैसी है। सुनती हूँ अब तक अकेली और आज़ाद है । भाई, तू बड़ी मौज में है। औलाद से ज़्यादातर दुःख ही निकलता है। पहले तो संसार ही दुःखी है। पर छोड़ो तेरी गिरिस्ती तो नंदन-कानन होगी।

तुम्हारी ही—
शीला

मालती,

जरूर आना, भूलना नहीं ।

तुम्हारा—
कृ०

(अंग्रेजी में)

दिल्ली
१० अक्तूबर

परम प्रिय बा० नंदकिशोर,

पत्नी से सूचना मिली है कि आप सब लोग इस महीने के अंत में प्रयाग के रास्ते में यहाँ उतरने का विचार रखते

हैं। मैं अनुगृहीत हूँगा यदि आप इस विचार को निश्चय का रूप दे दें और कृपा कर आतिथ्य का अवसर दें। उत्तर की प्रतीक्षा में रहूँगा।

कृपाकांक्षी

—कृपादयाल

दिल्ली

२७ अक्तूबर

शीला,

मालती आ रही है। सब आ रहे हैं। परसों सवेरे पहुँच रहे हैं। खुद आने का मुझे साहस नहीं हुआ, इससे पत्र है। तुम्हारे बिना कैसे होगा। कल दोपहर गाड़ी लेकर आऊँगा। चाहो तो इन दिनों मंजुला का इन्तज़ाम कहीं होटल में कर सकते हैं। शीला, तुम समझ सकती हो। इन्कार न करना ! मैं कल आऊँगा।

—कृपाल

दिल्ली

२७ अक्तूबर

श्रीमान् जी,

आदमी ने पत्र दिया। ज्ञान मेरा पत्र लाता है। मालती क्यों आ रही है ? मैंने तो उसे इन्कार लिखा था। मुझे कोई उसका दूसरा पत्र भी नहीं मिला। आप जानें आपका काम। कष्ट न कीजिएगा। मैं नहीं आ सकूँगी।

२० तारीख को मुझे रुपया मिला। अगले महीने पहली या दूसरी को नहीं मिल गया तो फिर पंद्रह-बीस की जो नौकरी होगी मुझे कर लेनी पड़ेगी। दूसरे के आगे पल्ला तो मैं नहीं पसार सकती!

—शीला

प्रयाग

८ नवम्बर

प्यारी शीला रानी,

मैं क्या कहूँ। मैं बहुत-बहुत कृतज्ञ हूँ। मुझे ईर्ष्या भी होती है। मेरे पति तुम्हारे ही गीत गाते हैं। सच कहती हूँ शीला, दिल्ली में तुम लोगों के पास जैसे आल्हाद के दिन गुज़रे वैसे जीवन में कम आते हैं। मैं बहुत-बहुत कृतज्ञ हूँ कि तुम्हारी गिरस्ती आदर्श है और तुम लोगों में आपस में जो समझ-सौहार्द्र है उस पर ईर्षा होती है। हमारे यहाँ तो कुछ पूछो न शीला, आये रोज़ कुछ न कुछ रगड़ा-झगड़ा खड़ा होता रहता है। पर तुम लोगों का घर है कि कहीं क्लेश का बादल नहीं। प्रीति से भरा स्वच्छ और मुक्त हास्य ही वहाँ दिखाई देता है।

एक बात कहती हूँ, कहीं इसका कारण यह तो नहीं कि तुम में पति के प्रति शंका नहीं है और पूरे विश्वास से तुम उन्हें आज़ाद रखती हो। तुम हमारे साथ सिनेमा नहीं गई, नुमाइश नहीं गई, कहीं नहीं गई। पहले तो मैंने समझा तुम अप्रसन्न हो, पर वह बात नहीं थी। हमेशा प्रसन्न हास्य ही तुम्हारे चेहरे पर दीखता था। मेरे स्वामी को तो अधिकतर काम रहता था और तुम्हारे पति के साथ

ही घूमने को मैं लाचार थी। लेकिन तुम्हारे चेहरे पर मैंने कभी मैल नहीं देखा। (इसके बाद की तीन पंक्तियाँ कटी हुई थीं और पढ़ी नहीं जा सकती थीं) शीला, मैं तुम्हे बहुत-बहुत धन्यवाद देती हूँ। तुमने मेरी आँखें खोल दीं। इस विश्वास के कारण ही शायद तुम्हारी गिरस्ती सुख से भरी है।

कल हम लोगों का काशी जाने का विचार है। उधर से अयोध्या होते हुए शायद लौटें तब दिल्ली आना न हो सकेगा। तुम लोगों ने इधर से दिल्ली होकर लौटने का वचन ले लिया था लेकिन वह संभव नहीं है, शीला रानी। और हमें माफ़ करना। बना तो लाहौर से फिर कभी आएँगे। लेकिन तुम ने क्या ऐसा सन्यास-व्रत ले लिया है जो कहीं नहीं टलोगी। तुम लाहौर एक बार क्यों नहीं आतीं ?

तुम्हारी

—मालती

दिल्ली

१२ नवम्बर

शीला,

मालती का पत्र फिर मैंने खोल लिया जो साथ आता है। बीच बीच की लकीरें मैंने काटी हैं। लेकिन अब मालूम होता है फिजूल काटी हैं। अपने बारे में तुम्हारी अच्छी सम्मति मैं जरूरी समझता था पर ज़रूरी अच्छी सम्मति नहीं, स्वयं अच्छा ही है, यह

मैं देखता जाता हूँ। मंजुला होटल से अब भी नहीं आयी। वह नाराज़ है। उसे होटल में रख कर तुम्हें घर में क्यों बुलाया गया? मैं नहीं जानता उसे यह बात किसने बताई। लेकिन अब यह समझने लगा हूँ कि सच बात अपने को स्वयं बतलाती है। झूठ बात को ही प्रयत्न-पूर्वक बतलाना पड़ता है। खैर, वह छोड़ो। तुम गई। मंजुला गई। घर में अब आराम है। नौकर-चाकर हैं, फ़ौरन हुक्म पर काम करते हैं और दख़ल नहीं देते। वे अधीन हैं और घर में मेरी ही इच्छा और मेरा हुक्म सब-कुछ है। पर शीला अब लगता है कि कोई प्रतिरोध चाहिये। कोई चाहिये जो कम है इस से अधीन नहीं है। बल्कि जो स्वाधीन है इससे प्रेम-पूर्वक ही अपने को उसके अधीन करके उसे अपने स्वाधीन करना होगा। प्रेम में पुरुषार्थ है, शीला। हम प्रेम के भोग को चाहते हैं उसके अध्यवसाय को नहीं चाहते। प्राणी के साथ सहज है वह तो स्वार्थ है, अहंकार है। प्रेम तो यत्न-साध्य है। शीला, यह मैं नहीं जानता, धीरे-धीरे जान रहा हूँ। अब तो जी होता है कि कह दूँ रुपया नहीं आयगा और चल कर कहूँ कि लो मैं ही आ गया हूँ। लेकिन उतना साहस नहीं है। तुम पर अपने को डाल सकूँगा उसी रोज़ तुम्हारे निर्णय पर किसी तरह का आरोप लाना चाहूँगा। उससे पहले नहीं। तुम्हारा निर्णय मेरा भाग्य है। रुपया तो पहली तारीख़ को पहुँचेगा ही। जब कहो सब का सब भी तुम्हारे हाथों में पहुँच सकता है। वह बात नगण्य है। लेकिन मंजुला का क्या करूँ? रूप है इससे उसे समझ नहीं है। रूप के गर्व में वह बुद्धि खो बैठी है इसमें उसका क्या दोष है?

मैंने ही क्या उसके रूप की क़ीमत उसकी आँखों में नहीं बढ़ाई! ख़ैर, वह जाने दो। इस वक्त घर में मैं एक दम स्वतंत्र हूँ। और एक दम आराम से हूँ। तुम चिन्ता न करना।

तुम्हारा

—कृपाल

दिल्ली

२ दिसम्बर

श्री०

एक तारीख हो गई रुपया नहीं आया। पर उस कारण नहीं लिख रही हूँ। लेकिन यह क्या सुनती हूँ कि घर में रात में कोई आता है। और तुम शराब पीने लगे हो। फ़ौरन उत्तर दो कि यह झूठ है। नहीं तो मैं यह नहीं सह सकती। जवाब ज्ञान के हाथ ही दे दें।

शीला

दिल्ली

२ दिसंबर की शाम

श्री०

ज्ञान ख़त तुम्हारे वाली मेज़ की दराज में रख आया है। तुम मिले नहीं थे। यह डाक से भेजती हूँ। जवाब तुरन्त दो। रुपया आज भी नहीं मिला।

—शीला

दिल्ली
२ दिसम्बर

शीला देवी,

रुपया इसी ख़त के साथ है। एक दिन की देर के लिए क्षमा चाहता हूँ। जो सुना, सच है। लेकिन मैं स्वाधीन हूँ। कोई मेरी चिन्ता क्यों करे। मेरी ज़िन्दगी मेरे हाथ है। और अगर आप को आपका रुपया वक्त पर मिलता जाता है तो उससे अधिक मैं क्या कर सकता हूँ? मंजुला ने २५०) मासिक की वृत्ति के लिये अदालत में मुझ पर दावा किया है। कल मैं उसी से मिलने गया था इससे यहाँ ज्ञान से न मिल सका। २५०) मासिक से अधिक लेने का उसे हक़ था। कह आया हूँ कि यह रकम उसे प्रति मास मिलेगी। दावा अब वापस हो जायेगा।

देखता हूँ रुपया बड़ी चीज़ है। उस से झगड़े शान्त होते हैं और शराब प्राप्त होती है। रुपया है तो चिन्ता क्या?

—कृपाल

दिल्ली
१० दिसम्बर

ख़बर सुनो शीला,

मालती आ रही है। उसे मालूम है कि तुम यहाँ नहीं हो। मालूम है कि मैं अकेला हूँ और दुर्व्यसनी हूँ। पर यह भी मालूम है कि मुझे पैसे की अच्छी आमदनी है। मालती तुम्हारी सहेली है! यहाँ मैं उसके काम को नहीं जानता। वह १२ तारीख को

सुबह पहुँच रही है। कहो तुम क्या कहती हो ? शराब क्या अब भी बुरी चीज है ?

कृपाल

दिल्ली

११ दिसम्बर

शीला,

आज फिर तार आया है। मालती आ रही है। तुम क्या समझती हो। मुझे इस वक्त तुम कुछ नहीं लिखना चाहती हो ? फिर तुम न कहना मैं शराब पीता हूँ ?

मंजुला आने को तैयार हैं। वह दो दिन घर रहेगी और मुझे आज़ाद रक्खेगी ! डांस भी देगी। डांस वह अच्छा जानती है। फी दिन १००)। मालती का मन रखने को घर पर कोई तो चाहिए। क्यों शीला, क्या कहती हो ?

—कृपाल

दिल्ली

१४, दिसम्बर

लो, शीला,

मंजुला गई, मालती गई। तुम ने कुछ खबर नहीं ली न ? मालती उपदेश देने आयी थी। मैं ने कहा कि मेरे पास धन है। उपदेश की एवज क्यों, वैसे ही ले जाओ। धन का देना आनन्द देता है। पर उस ने धन नहीं लिया फिर भी उपदेश दिया ही। मैंने कहा पर वह तुम से मिलने को राज़ी नहीं हुई। कहती थी तुम

झेंपोगी। पागल है, वह तुम्हें नहीं जानती । लेकिन शीला, शराब को दोष न देना वह असलीयत बाहर ले आती है । शीला, मुझे माफ़ करना। मालती समझदार है। वह तुम जैसी नहीं है। वह दुनिया में धन की कीमत जानती है और मंजुला दो रोज़ के बाद तीसरे रोज़ भी रही और हिसाब में १००) उस के भी लगे। शीला, वह मेरी पत्नी है। लेकिन धन बड़ी चीज़ है । अब तुम शराब को कुछ न कह पाओगी लेकिन तुम तो इधर कुछ कहती ही नहीं हो। चलो अच्छा है । मैं भी नज़दीक आ रहा हूँ कि तुम्हें लिखने के सिलसिले को अपनी तरफ़ से छोड़ दूँ।

तो तुम धर्मशाला में ही रहे जाओगी ? घर जो यह पड़ा है। परन्तु तुम जानो। मैं शायद कुछ कहने लायक नहीं हूँ।

तुम्हारा

—कृपाल

—:o:—

दिल्ली

२६ दिसम्बर

लो, शीला

यह अन्तिम पत्र है । मैं बिस्तर में हूँ। फ़िकर न करना। नर्स है। डाक्टर है। और सब इन्तज़ाम है। खुद नहीं लिख सकता हूँ। इसी से तो ख़त लिखाया है। कल बड़ा दिन था। ईसा क्रास पर चढ़े थे। सोचता था, तुम्हारे पास आऊँगा और माफ़ी माँग लूँगा पर साहस न हो रहा था, तभी मंजुला ने होटल में बुला भेजा। बात संक्षेप में कहूँ। वहाँ से कैसे घर आया मालूम नहीं। होश आया

तब डाक्टर को सिर पर देखा । अब ठीक है। चोट ऐसी नहीं है लेकिन तुम्हें फ़ौरन आ जाना है। मंजुला के पास किसी को होना चाहिए। वह डरती होगी। गाड़ी आ रही है। अधिक मिलने पर—

तुम्हारा

—कृपाल

दिल्ली

५, जनवरी

प्यारी बहन मालती।

तुम यहाँ आयी थी तब मैं मिली नहीं। तब से तुम ने ख़त भी नहीं लिखा, बड़ी मुँह चोर हो जी ! तुम ने क्या ये समझा कि अपना घर मैं नहीं सम्हाल सकती ?

सुनो बहन, अपने मन में तुम कुछ न रखना। अख़बारों से तुम ने इन्हें चोट आने की ख़बर जानी ही होगी। मंजुला कुसंग में पड़ गयी है। लेकिन मन से कोई बुरा नहीं होता और अगर हम मन में से आदर नहीं खोएँगे तो एक दिन वह इसी घर में आ जायगी। भूत से तो लड़ा नहीं जा सकता। जो हो गया उसे मान कर ही चलना होगा। अख़बारों ने बात बढ़ा-चढ़ा के छापी थी। रुपये-पैसे का झगड़ा हो गया था। यह तो रुपये पर हाथ नहीं भींचते पर गुँडों के सामने दबना नहीं चाहा होगा। मंजुला ५००) माहवार और १०,०००) नक़द चाहती थी। यह राज़ी नहीं हुए। इन्होंने कहा कि मंजुला के लिए उनका प्रेम सच्चा होता तो २५०) भी उसे न देते। पर इतनी दुश्मनी उसके साथ नहीं कर सकते कि ५००)

माहवार और १०,०००) दूं। रुपये का सवाल नहीं है। पर इस में मंजुला का ही भला नहीं है । तारीफ़ तो तब है जब मंजुला अपनी तरफ़ से कुछ न चाहे। वह घर में कुछ न चाहे। वह घर में क्यों नहीं रहती । इस पर कुछ कहा-सुनी हो गई होगी और मंजुला और उसके दो साथियों ने इन पर वार किया । मारने की मंशा होती तो मार सकते थे पर जख्मी कर के उन्हें यहीं घर पहुँचा दिया। अब काफ़ी आराम है।

बहिन, स्त्री की कुछ न पूछो। मैंने सोचा था कि डिगूँगी नहीं, पर परमात्मा भला, किस की रखता है और स्त्री तो टूटने के लिये बनी है।

बहिन न टूटने में कोई सुख भी नहीं है। ख़ैर, अब बताओ तुम कब आओगी ? इन्हें अच्छा होने दो फिर हम भी तीर्थयात्रा पर जायँगे।चलोगी न हमारे साथ ?

तुम्हारी

—शीला

चालीस रुपये

चालीस रुपये आये और गये। फिर आये और फिर गये। इस चक्कर में उनसे एक कहानी बन गई। उसी का वृत्तान्त सुनाता हूँ।

आप वागीश को जानते न हों, पर नाम सुना होगा। आदमी वह कुछ यों ही है। ख़ैर, वह अपने कानपुर से इलाहाबाद जा रहा था। उतरा और ताँगे पर पहुँचा तो देखता है कि एक औरत उसके पीछे खड़ी है। गिड़गिड़ा रही है और वह कुछ चाहती है। गोद में बच्चा है। मैली-सी धोती पहिने है, जिसको सिर पर खींच कर आधा घूँघट सा कर लिया है।

वागीश (यह उसका किताबी नाम है) को इस तरह की बातें अच्छी नहीं लगतीं। उसे छीनना अच्छा लग सकता है, माँगना बुरा लगता है। एक बार कुरते की नीचे की जेब में रूमाल पड़ा था, जिस में कुछ पैसे थे। किसी ने उसे ऐसा साफ़ खींच कर निकाल लिया कि क्या बात! यह वागीश को अच्छा लगा। उसकी तबियत हुई कि वह हुनरमन्द मिले तो कुछ उस को इनाम दिया जाय। आख़िर यह भी

हाथ की सफ़ाई है। एक बार ऐसी साफ़ जेब कटी कि क्या कहना! उसके बाद ब्लेड लेकर उसने अपने कोट पर खुद हाथ आज़माया कि वह सफ़ाई मुझे भी नसीब हो। जेब किसी की काटनी नहीं है, यह दूसरी बात है। पर, हाथ की सफ़ाई तो आनी चाहिये! इस लिए जनाब ने कोट को जगह-जगह से नश्तर देकर चाक-चाक कर दिया। पर आख़िर तक उन्हें तसल्ली नहीं हुई कि कलावन्त की खूबी का सौवाँ हिस्सा भी उनकी तराश में आ सका है। तब सोचा था, कोई उस्ताद गिरहकट मिले तो उससे हस्तलाघव सीखेंगे।

लेकिन यह क्या कि गिड़गिड़ाकर माँगा जा रहा है। उन्होंने चेहरे को सख्त किया, कहा—'क्या है? हटो, हटो।'

पर स्त्री हटी नहीं; बल्कि और पीछे लग गई।

ताँगे में बैठते-बैठते वागीश ने झल्लाकर कहा—'क्या है? पैसा पास नहीं है। चलो रास्ता देखो।'

ताँगे में बैठ कर आधे घूँघट में से उसका चेहरा दिखाई दिया। ठोड़ी पर गोदना गुदा था। उम्र होगी पचीस वर्ष। बदसूरत न थी, खूबसूरत तो थी ही नहीं। नेक-चलन न होगी। और गोद के चिमटे बच्चे के सिर पर खाज के दाग थे, हाथों पर खरोंच।

वागीश ने डपट कर कहा—'चलो हटो, जाओ।'

ताँगे वाले ने कहा—'चलूँ बाबू जी?'

स्त्री ने हाथ फैलाया, बोली—'तुम्हारी औलाद जिये बाबू। धन-दौलत मिले। बच्चा भूखा है। उसका बाप नहीं है...... !

'तो माँगती क्यों है? काम करो! यह ताँगा क्यों पकड़ रखा

है ? छोड़ो, हटो ।'

'क्या काम बाबू ? तुम्हारे औलाद-पुत्तर जीयें !'

'काम करो—काम । हराम का नहीं खाते हैं ।'

इस हराम और काम के सिद्धान्त को वह खुद नहीं समझ पाता था । इस से जूते के अन्दर बँधे उसके पैर स्त्री ने पकड़े तो सङ्कट में उन्हें पीछे खींचते हुए वह घबरा कर बोला—'हं, यह क्या करती हो ? बोलो, काम करने को तैयार हो ?'

स्त्री ने कहा—'हाँ, बाबू ।'

उस समय वागीश जैसे अपने से ही घिर गया । कह पड़ा—'तो चलो मेरे साथ; तुम्हें काम मिलेगा ।'

२

दो रोज़ के लिए इलाहाबाद आया था । मित्र ने पूछा कि यह क्या नये क़िस्म का सामान अपने साथ ले आये हो, तो वागीश कोई ठीक समाधानकारक जवाब न दे सका । कहा—'उससे चक्की पिसवाओ जी । सब कामचोर होते हैं । चक्की सामने देखकर अपना रास्ता लेगी ।'

मित्र को लगा तो विचित्र, पर वागीश ही विचित्र था । मित्र ने कहा 'वागीश ! तुम हो अजब कि अपने पीछे बला मोल लेते फिरते हो ।'

वागीश ने कहा कि मोल कहाँ लेता हूँ । मोल में कुछ देने को हो तो भी क्या फिर बला ही लूँ ? पर बिन मोल जो सर पड़े, उसका क्या हो ? देखो माँ और बच्चे के लिये एक धोती-क़मीज़ ठीक

सी निकलवा दो। और उनके कपड़े आग के हवाले करने को कह दो।'

खैर, इस तरह पहला दिन बीता। नये कपड़ों में वह स्त्री भी नई हो आई। और काम से उसने जी नहीं चुराया। आठ सेर गेहूँ उसने पीसा, जिसकी मज़दूरी वागीश ने दो आने दी। कुछ उसने चर्खा काता, कोठी में झाड़ू दी और थोड़ा-सा बच्चों का काम भी सँभाला।

वागीश को इस पर गुस्सा हुआ। समझता था कि एक बार अबारा हुआ कि उससे काम फिर होना-जाना क्या है? इसलिए झकमार कर यह आप ही भाग जायगी। चलो, झंझट छूटेगा। इस का उसे विश्वास था। वह विश्वास ठीक नहीं उतरा, तो वह मन ही मन उस औरत से नाराज़ हुआ।

अगले सवेरे बरामदे के बाहर आराम कुर्सी पर बैठा था। हाथ में अखबार था, यद्यपि पढ़ नहीं रहा था। मन उस वक्त खाली था। कल की बात का उसे खयाल आता था कि काम करना चाहिए हराम का नहीं खाना चाहिये। कल से आज तक जो उसने किया वह काम है कि हराम है, यह ठीक तरह उसकी समझ में नहीं आ रहा था। कल उसने शाम को मोटर में जा कर, कुर्सी पर बैठ कर डेढ़ घण्टे तक एक सभापतित्व किया था। अन्त में कुछ बोला भी था। इस कष्ट के किये उसे बहुत धन्यवाद मिले थे। यह काम है कि हराम है; यह जानना चाह रहा था। वह स्त्री बरामदे में झाड़ू दे रही थी। अकारण वागीश ने गुस्से से कहा—'यहाँ आओ!'

स्त्री ने मुँह ऊपर किया, प्रतीक्षा की और फिर मुँह नीचे डाल

कर झाड़ू में लग गई।

वागीश ने 'यहाँ आओ' कहने के साथ उधर मुँह फेरने की ज़रूरत नहीं समझी थी और रोष-भाव से सामने के बगीचे को देखता रहा था। उत्तर में कोई पास नहीं आया तो उसने और भी धमकी से कहा—'सुना? इधर आओ!'

इस पर झाड़ू छोड़, धोती सिर पर सँभालती हुई वह स्त्री पास आ गई। घूँघट इस बार अतिरिक्त भाव से आगे था। वागीश को बुरा लगा। उसके मन में हुआ कि यह पर्दा ही ऐबों को ढकता है। बोला—'तुम अब क्या चाहती हो?'

स्त्री आँखें नीची करके और उसके आगे धोती की कोर को एक हाथ से तनिक थामे चुप खड़ी रही, जवाब नहीं दिया।

'बोलो, क्या चाहती हो? अब तुम जा सकती हो।'

स्त्री ने फिर कुछ जवाब न दिया।

वागीश ने कहा—'देखो, मैं कल यहाँ से चला जाऊँगा। यह मेरा घर नहीं है, तुम देखती ही हो। इस लिये तुम यहाँ से आज शाम तक जा सकती हो।'

जब देखा कि स्त्री अब भी कुछ जवाब नहीं देती है तो वागीश ने कहा—'दूसरों के सिर पर पड़ना ठीक नहीं होता न, भीख माँगना ही ठीक होता है। तुम्हारे बदन में कस है और तुम काम कर सकती हो। आवारा फिरते तुम्हें शर्म नहीं आती? कहीं नौकरी देख सकती हो। मैं यहाँ से कल चला जाऊँगा।'

स्त्री फिर भी चुप रही। इस पर वागीश ने कड़क कर

कहा—'खड़ी क्या हो ? सुन लिया; अब जाओ काम करो ।'

यह कह कर उन्होंने अख़बार खोला और स्त्री जाकर झाड़ू देने लगी ।

उस रोज़ स्त्री ने ग्यारह सेर आटा पीसा, घर के कुछ कपड़े भी धोये, झाड़ू दी और ऊपर से चर्खा भी काता ।

यह सब कुछ वागीश को खुश करने की जगह उलटे नाराज़ करता था । औरत उसके हिसाब के मुताबिक़ फ़ाहिशा, कामचोर और तेज़ ज़बान निकलती, तो उसे सन्तोष होता । सवेरे की अपनी बातचीत के पीछे उसके मन में कोमलता आई थी । सोचा था कि दो-एक तसकीन की बात उससे करेंगे । पर दिन में फ़ुर्सत नहीं मिली और शाम को आया तो मालूम हुआ कि स्त्री ने दिन भर मुस्तैदी से काम किया है । बस, इस एक बात से उसका मन बिगड़ गया । उसे बुला कर ताक़ीद से कहा—'सुना न तुमने कि मैं कल जा रहा हूँ ? तुम्हें कुछ चाहिए तो कहो और मेरे दोस्त का पिण्ड छोड़ो। उन्होंने तुम्हारे खाने-पहिनने का कोई जिम्मा नहीं लिया है ! आज आटा पीसा ?'

स्त्री चुप रही ।

'सुनती हो, पीसा कि नहीं ? कितना पीसा ?'

धीमे से स्त्री ने कहा—'दस सेर !'

आटा पूरा ग्यारह सेर तुला था यह भाभी जी से वागीश को मालूम हो चुका था , भाभी जी अधूरा काम नहीं करती थीं । साढ़े ग्यारह सेर हो, तभी उन के हाथ कोई चीज़ ग्यारह सेर तुल सकती

थी। पर स्त्री ने बताया दस सेर! सुन कर वागीश को ग़ुस्सा चढ़ आया। कहा—'दस सेर! कुल दस सेर? दिन भर क्या करती रहीं?'

स्त्री को चुप देख, कुछ देर बाद कहा—'ख़ैर, यह लो?'—कह कर ग्यारह पैसे मज़दूरी के उसकी हथेली पर रख दिये। पूछा—'और चरखा?'

'काता था।'

'उसकी मज़दूरी कितनी हुई, बतलाओ! मुझे कल चला जाना है।'

स्त्री चुप रही तो धमका कर कहा—'बतलाती क्यों नहीं हो? ग़रीब से मैं कोई मुफ़्त मेहनत नहीं ले सकता।'

काफ़ी धमकाया गया तो स्त्री ने कहा—'जो आप जानें।'

वागीश ने चार आने निकाल कर दिये। कहा—'यह तो वाजिब से ज़्यादा ही है।'

स्त्री ने इस पर एक इकन्नी वापिस लौटाते हुए कहा—'तीन आने बहुत हैं।'

वागीश को बहुत बुरा लगा। बोला—'ग़रीब की मेहनत मुफ़्त खाने वाला इस घर में कोई नहीं है, अपने पास रक्खो। अच्छा, दो दिन तुमने यहाँ काम किया है, उसका क्या हुआ?'

स्त्री चुप रही। वागीश ने ज़ोर से कहा—'बताती क्यों नहीं हो, क्या हुआ? जैसे बड़ी रईसज़ादी हो।'

स्त्री धीमे से बोली—'मुझे यहाँ खाना कपड़ा...'

वागीश ने डपट कर कहा—'चुप रहो। खाना यहाँ मोल नहीं

बिकता। बस, चुप! ठीक बोलो, दो दिन का तुम्हारा क्या हुआ?

वह कुछ नहीं बोली। कुछ देर जैसे वह भी अनिश्चय में रहा; फिर कहा—'अच्छा, वह चार आने मुझे देना तो।'

स्त्री ने पैसे वापस कर दिये। वागीश ने एक रुपया निकाल कर उसके हाथों में देते हुए कहा—'बारह आने ठीक हैं न? इतनी मज़दूरी और किसी को नहीं मिलती। ग़रीब जानकर तुम्हें दे रहे हैं।'

इसके बाद वागीश चुप रहा और स्त्री भी चुप रही। थोड़ी देर बाद बोला—'तुम्हारा नाम क्या है?'

'गेंदो।'

सुन कर वागीश फिर चुप पड़ गया। थोड़ी देर बाद बोला—'हाँ, तो तुम अब चली जाओ। कल मुझे जाना है। इनके ऊपर तुमको नहीं रहना चाहिए।'

उसे चुप ही खड़ी देख पूछा—'क्या कहती हो?'

स्त्री ने जो कहा उसका आशय था कि कल मुझे वहीं स्टेशन ले जाकर छोड़ देना, अकेली मैं रास्ता नहीं जानती।

साथ कल इसे स्टेशन ले जाना होगा, यह बात वागीश को बहुत अप्रिय हुई। स्टेशन भी क्या कोई मुहल्ला है! स्टेशन पर घूमती रह कर यह औरत विष ही फैलायगी; और क्या करेगी, आदि बातें मन में लाकर वागीश ने उसे डाटा, समझाया, उपदेश दिया। सब वह स्त्री पीती चली गई। आख़िर बहुत पूछने पर उसने मुँह खोला ही तो पता चला कि उन्नीस रुपये एक क़र्ज़े के उसे जमा करने हैं। वह रक़म दी जाय तब भीख माँगना वह छोड़ सकती है।

वागीश के जी में तो आया कि कहे कि तुम चाहे नरक में पड़ो, मुझ से मतलब ? भीख माँगना छोड़ोगी, तो किसी पर अहसान नहीं करोगी, जो ये उन्नीस रुपये जमा होने की बात कहती हो। काम करो और पसीने में से धेला पाई जोड़, क़र्ज़ चुकाओ। इत्यादि। पर वागीश ने कहा कुछ नहीं।

इलाहाबाद में 'छाया' अख़बार का मशहूर कारोबार है। अगले दिन ग्यारह बजे वागीश उसी के दफ़्तर में बैठा था। नाम की चिट मैनेजर साहब को भेज दी गई थी और वह याद किये जाने की प्रतीक्षा में था। क्लर्कों की क़तारें काम कर रही थीं और घड़ी चल रही थी। सब व्यस्त थे। वागीश अकेला था कि कब पूछा जाय।

आख़िर उसने सोचा कि कारोबार बड़ा है, फ़ुर्सत कम है; देर होनी ही चाहिए; लेकिन अब मैं चलूँ। फिर भी मन मार कुछ देर बैठा ही रहा।

पर काम बड़ा था और मैनेजर की मुश्किल मैनेजर ही जान सकता है। वागीश उस मुश्किल को न जान कर आख़िर कुर्सी से खड़ा हुआ और लौट चला।

इतने में और काम जल्दी-जल्दी निबटा कर मैनेजर लौट रहे थे। बरामदे में एक आदमी को देख कर कहा—'आप !'

वागीश ने ठिठक कर कहा—'जी, मैं मैनेजर साहब से मिलना चाहता था।

'फ़रमाइए।'

वागीश ने कहा—'मेरे नाम की चिट आपको मिली होगी ?'

'ओह, आप वागीश हैं, आइए-आइए!'—कह कर हाथ में हाथ लेकर मैनेजर वागीश को ले चले।

वागीश रास्ते में उनके निजी दफ़्तर में कुर्सी लेकर बैठने को हुआ कि मैनेजर ने कहा—'ओह, यहाँ नहीं। यहाँ शोर-गुल क़रीब है। दफ़्तर जो है! आइए अन्दर चलिए!'

इस तरह निजी ड्राइङ्गरूम में ले गये और वहाँ ख़ातिर-तवाज़ो की। कहा—'ठहरे कहाँ हैं? यह आप ही का घर था। क्या-आ···। वह ताँगा आपका है? अरे भाई देखना—(घण्टी—चपरासी आता है।) देखो, बाबू साहब का ताँगा खड़ा है। हिसाब करके उसे रवाना करो! ओह, नहीं-नहीं, आप रहने दीजिए। क्या देना होगा? डेढ़ घण्टा—तेरह आने। देखो, तेरह आने छोटे बाबू से दिलवाओ और सफ़र-ख़र्च-खाते डालो। बाउचर यहाँ लाने को कहो (चपरासी चला जाता है) हाँ, यह बतलाइये वागीश जी, 'कि आप, आप हमसे ख़फ़ा क्यों हैं? इतने ख़त गये, एक का जवाब नहीं। हम पत्रिका को ऊची ऊँची बनाना चाहते हैं—आला स्टैण्डर्ड। आप जैसों के सहयोग से यह हो सकता है। पर आप तो ऐसे नाराज़ हैं कि ख़त का जवाब नहीं देते!'

वागीश ने कहा—'वह वागीश अब है कहाँ जो कहानी लिखता था? वह तो मर गया। क्या आप लोग चाहते थे कि वह न मरता? या अब चाहते हैं कि न मरे।'

'वाह-वाह! यह आपक्या कहते हैं? इरशाद कीजिए; हम हाज़िर हैं। बिज़नेस की हालत तो आप जानते हैं! काग़ज़ की

महँगी तो कमर तोड़े डालती है। फिर भी जिस लायक़ हैं, हम पीछे न रहेंगे। आप जो कहिए, सिर आँखों पर। दस, पन्द्रह, बीस; चालीस—आप कह कर तो देखिये। लेकिन हम हर महीने आपकी एक कहानी चाहते हैं। अपने यहाँ कहानी-लेखक हैं कितने! हैं कहाँ? विलायतों में देखिए; वहाँ लोग हैं ऊँचे दर्जे के, और उनकी क़द्र भी है। मगर यहाँ आप हैं और दो-चार और गिन लीजिए। वे भी लिखें नहीं तो हम क्या कूड़े से अपना अख़बार भरें? आख़िर आप ही कहिए! देखिए वागीश जी, एक कहानी आप हमको हर महीने दीजिए और रकम जो इरशाद फरमाइए हाज़िर करूँ। सच कहता हूँ, मेरी मंशा है कि अख़बार का और उसके ज़रिये हिन्दी का स्टैण्डर्ड बने। विलायती किसी पत्रिका से आपकी यह पत्रिका टक्कर ले सके, जी हाँ। और आप लोगों की इनायत हो तो यह क्या कुछ मुश्किल काम है ......?'

वागीश अपने में सङ्कुचित था। कुछ इस वजह से भी कि बीस रुपये की ग़रज़ लेकर वह यहाँ आया था। कानपुर से चला तो दस रुपये उसकी जेब में थे। क्या ख्याल था कि राह में ज़हमत गले आ पड़ेगी। अब बीस रुपये यहाँ से लेकर उस औरत के माथे पटक देगा और किनारा लेगा। यह सोच कर वह आया था। यहाँ आने पर ख़्याल हुआ कि कहाँ मेरी लापरवाही कि इतने ख़तों का एक जवाब नहीं दिया, और कहाँ इनका यह सलूक कि ख़ातिर से मुझे छाये दे रहे हैं। कहा—'जी नहीं, वह तो आपकी कृपा है। लेकिन सच मानिए कि मैं कहानी भूल गया हूँ। किस मुँह से आप

को आस दिलाता ? और आसभरा पत्र न भेज सकूँ तो सोचा कि इससे तो शर्म रखने के लिए जवाब टाल जाना ही बेहतर है। पत्र न लिखने के कसूर की वजह, सच मानिए, मेरी यह शर्म ही है।'

'वाह-वाह! यह आप क्या कहते हैं! आप जो लिखेंगे कि एक चीज़ होगी। कहिए; क्या मँगाऊँ? पेशगी रखिए, बाद में जब हो लिखते रहिएगा। सब आप ही का है। बोलिए, फ़रमाइये! पर एक कहानी हर नम्बर में आपकी हो, तब है!'

वागीश ने मुँह खोला—'बीस रुपये!'

'बीस! तो वाह, यह लीजिए। (घण्टी) देखिए, हर महीने एक उमदा कहानी हमको दीजिए और अख़बार अपना समझिए। (चपरासी आता है।) देखो, चालीस रुपये लाने को कहो और रसीद भी बना लावें। हाँ वागीश जी, आपका सामान यहीं क्यों न मँगवा लूँ? एक बार ग़रीब का भी घर सही, मोटर में दस मिनट में आ पहुँचेगा।'

वागीश ने माँफ़ी और धन्यवाद दिया।

रुपये और रसीद लेकर बाबू आया तो वागीश ने कहा—'देखिए, मैं इधर कुछ लिख नहीं रहा हूँ। लिखा ही नहीं जाता। इससे नहीं जानता कि आपकी कहानी कब आयगी। दो-तीन महीने भी लग सकते हैं।'

'तीन महीने! बहुत बेहतर, तीन सही। लेकिन चौथे महीने मैं उम्मीद करूँ!'

'जी हाँ, चौथे महीने कहानी न आने की तो कोई वजह

नहीं दीखती। आप जानिए; एक मुद्दत से मश्क़ छूट गई है।'

'वाह-वाह! यह भी आप क्या कहते हैं! आपकी क़लम क्या मश्क़ की मोहताजी है? कलम उठाने की देर है कि फिर क्या है!'

रुपये मिल गये। एक आने के स्टाम्प की रसीद हो गई। मैनेजर ने कहा—'क्या आप जायँगे? जी नहीं, अभी नहीं। किसी हालत में अभी आप नहीं जा सकते हैं। और रिहाई होगी तो एक वादे पर। वह यह कि आप आयन्दा यहीं ठहरिएगा।'

बागीश ने इस वक्त के लिए तो लाचारी जतलाई। हाँ, आयन्दा वह यहीं आयगा। अभी तो एक मित्र के यहाँ पहुँचना है। इस पर मैनेजर बहुत निराश थे। तो भी उन्होंने तत्परता से मोटर लाने को कहा। जहाँ पहुँचना हो, मोटर, उन्हें पहुँचा देगी। मैनेजर बागीश के साथ पोर्च तक आये। ड्राइवर से कहा—'बाबू जहाँ कहें ले जाओ।' घड़ी में समय देख कर बागीश से पूछा—'आपको वहाँ से फिर कहीं जाने के लिए तो मोटर दरकार नहीं होगी? दो बजा है। पौने तीन बजे मुझे एक एपॉइण्टमेण्ट है।'

बागीश ने सधन्यवाद कहा—'जी नहीं, पहुँचा कर गाड़ी सीधी आ सकती है।'

(ड्राइवर से) "अच्छा, तो बाबू को पहुँचा कर यहाँ सीधे गाड़ी ले आना। अच्छा, बागीश जी, देखिए मेहरबानी रखिएगा। और ख़ादिम को याद फ़र्माइएगा।'

(४)

उसी दिन शाम की गाड़ी से बागीश को जाना था। उसने

मित्र से पूछा कि उन्हें कामकाज को किसी नौकरानी की ज़रूरत तो नहीं है न? हाँ, मित्र को ज़रूरत न थी, पर स्त्री को और कोई ठिकाना न हो तो कुछ महीने उसे निबाहने को तैयार थे। इतने में कहीं दूसरी जगह उसके लिए देख दी जायगी। बागीश ने स्त्री से पूछा। मालूम हुआ कि बागीश उसे ख़ुद वहीं स्टेशन के पास छोड़ आये, इसके सिवा वह और कुछ नहीं माँगती। बागीश ने समझाया कि यहाँ आराम से रहेगी और दस रुपये के हिसाब से दो महीने में बीस रुपया जमा-पूँजी हो जायगी। पर नहीं, वह साथ स्टेशन जायगी।

बागीश को बुरा मालूम हुआ; पर मित्र को भला मालूम हुआ। औरत ज़ात का उन्हें भरोसा नहीं; फिर जिस ने खुली हवा देखी हो!! उस दिन सवेरे ही उठकर स्त्री ने दस सेर आटा पीसा था, झाड़ू दी थी और महरी न आने की वजह से कहने पर चौका-बासन भी उसी ने किया था। इसकी मज़दूरी में बागीश ने आठ आने दे, भरपाई किया था।

आज स्त्री ने अपने पुराने कपड़ों की बाबत पूछा था। वह इन कपड़ों को यहीं उतार जायगी। पर मालूम हुआ है कि उसके कपड़े नहीं हैं। सुनकर मालकिन के कमरे की दहलीज़ पर सिर नवाते समय उसने अपनी गाँठ के कुल पौने दो रुपये निकाल कर रख दिये। यह देख कर मालकिन आग-बबूला हो गई। फुफकार कर अपनी जगह से उठ आकर लात से सब पैसे दूर फेंक दिये और उसे फ़ौरन् घर से निकल जाने को कहा। स्त्री के सामने से

हट जाने पर भी तरह-तरह के दुर्वचन मुँह पर लाकर वह बड़बड़ाती रही। वह स्त्री बिना कुछ कहे फेंके हुए पैसे बीन कर किसी न किसी काम में दूर हो रही।

ख़ैर, बागीश उसे ताँगे में बिठा कर चला और रास्ते में बीस रुपये उसे सौंप दिये। देने के साथ उसे बहुत सख़्त-सुस्त भी कहा। स्त्री ने रुपये ले लिये और चुप रही। बागीश ने कहा—'तुमको शर्म आनी चाहिये कि एक इज़्ज़त की नौकरी मिलती थी सो तुमको नहीं सुहाई। मैं जानता हूँ कि तुम फिर वही हाथ फैलाती फिरोगी। पर, तुम में ग़ैरत होगी तो, बीस रुपये ये जो तुमको दिये हैं, इसके बाद बैठ कर कुछ काम-हीले से लगोगी। यह नहीं कि बेहया-सी घूमो और भलेमानुसों का तङ्ग करो। एक शरीफ़ आदमी ने तुम्हें ऐसी इज़्ज़त से रखा, खाना-पहनना दिया, ऊपर से मेरी ख़ातिर दस रुपये माहवारी देने को तैयार हुए, और तुम ऐसी कि उनके उपकार को एक नहीं गिना। तुम्हारे काम से मैं समझा था कि तुम में समझ होगी। लेकिन ख़ैर जाने दो। यहाँ रहती कहाँ हो?'

'कहीं नहीं।'

'कहीं तो रहती हो?'

'कहीं रह लेती हूँ।'

सच पूछो तो बागीश को बेहद बुरा लगा। वह जल्दी इस बवाल से छुट्टी पाना चाहता था। उसे सुध आई कि स्टेशन पर कुली और दूसरे लोग क्या सोचेंगे। यह ख़याल अब तक नहीं

आया था, अब आया तो सचमुच यह सब कुछ बड़ा बेतुका लगा और शर्म मालूम हुई। सो अपनी काफ़ी नसीहत ख़र्च कर गुमसुम हो रहा। वह जैसे इस बात को यहीं एकदम समाप्त देखना चाहता था। ऐसी ही गुमसुम हालत में था कि सुना, स्त्री पूछ रही है—'आप कहाँ जायँगे, बाबू साहब ?'

'कानपुर।'

जवाब में यह एक शब्द झटके से मुँह से बाहर फेंक कर बिना उस ओर देखे वह अपनी जगह बैठा रहा। ताँगे में वह कोच-वान के बराबर आगे बैठा था। बच्चे को लेकर स्त्री पीछे बैठी थी। वागीश मन में मानता था कि ताँगे वाला जानता है कि यह औरत मेरे साथ नहीं है, ताँगे वाले ने इनकी बातें सुन ली होंगी। ताँगे वाले की उपस्थिति के कारण वे बातें कुछ अतिरिक्त ज़ोर से कही जा सकी थीं।

कुछ देर बाद स्त्री ने पूछा—'वहीं रहते हैं ?'

गुस्से में वागीश ने अत्यन्त संक्षिप्त भाव से कहा—'हाँ।'

कुछ देर चुप रहने के बाद स्त्री ने कहा—'कानपुर तो बहुत बड़ा है। वहाँ कहाँ रहते हैं ?'

वागीश ने असह्य बन कर कहा—'तुम चुप नहीं रह सकती हो ?'

स्त्री चुप हो गई; उसके बाद नहीं बोली। स्टेशन पहुँच कर तत्परता से वागीश ने कुली बुलाया। उसके सिर पर सामान रखा और चलने को था कि कुली ने पूछा—'बस बाबू, सब सामान हो

गया ?" बागीश को सहसा याद आया और कहा—'ताँगे के वहाँ नीचे सूटकेस है।' कुली ताँगे के पीछे आकर बोला - 'उतरो बहू जी।'

स्त्री अब तक अपनी जगह ही बैठी रह गई थी । सुन कर एकदम चौंकी और झटपट ताँगे से उतर आई । कुली ने कहा-- 'ड्योढ़ा दर्जा, बाबू जी ? बहू जी प्लेटफ़ारम पर चलती हैं, आप टिकट लाइए।'

बागीश ने अनायास कहा—'टिकट है।'

स्त्री सुध खोई खड़ी थी। बागीश ने झल्ला कर कहा—'क्या खड़ी हो, चलो। कुली के साथ चलो !'

कुछ देर ठिठक कर स्त्री कुली के साथ बढ़ गई। इतने में बागीश के कन्धे पर थापी पड़ी। पीछे मुड़ कर बागीश क्या देखता है कि हँस रहे हैं बाबू रामकिशोर !--'हलो बागीश कानपुर चल रहे हो ? मैं भी चल रहा हूँ। यह कौन हैं ?'

बागीश ने कहा—'कौन ?'

रामकिशोर ने कहा—'यही, जो साथ हैं ?'

बागीश ने कहा—'साथ कौन ? कोई नहीं।'

रामकिशोर ने कहा—'अच्छा, कोई न सही।'—और वह मुस्करा दिये। बागीश किसी तरह रामकिशोर से किनारा काट तीर की तरह प्लेटफ़ार्म की तरफ़ बढ़ गया। रेल आई न थी । कुली के हटने पर उसने स्त्री से कहा—'देखो, तुमने मुझे कैसे झमेले में डाल दिया है। अब तुम जाओ।'

स्त्री एक तरफ़ मुँह झुका कर खड़ी थी—वहीं खड़ी रही।

'जाओ।'

'चली जाऊँगी।'

'कब चली जाओगी, जाओ!'

'आप चले जायँगे तब मैं भी चली जाऊँगी।'

'तब क्यों, अभी जाओ!'

सुन कर नहीं कह सकते कि क्या हुआ। स्त्री एकदम बदली दीखी। वह मुस्कराई और बोली—'अभी न जाऊँ तो?'

बागीश की छाती पर जैसे किसी ने मुक्का मार दिया। वह सन्न रह गया, बोला—'क्या मतलब?'

स्त्री और भी मुस्कराहट के साथ बोली—'आपका मैं क्या बिगाड़ रही हूँ? कहती हूँ, चली जाऊँगी। प्लेटफ़ार्म सब का है।'

बागीश उस प्रगल्भ नारी की तरफ आँख फाड़ कर देखता रह गया—'तो तुम नहीं जाओगी?'

मुस्कराती हुई वह बोली—'न, नहीं जाऊँगी।'

बागीश इस पर कुछ देर खोया। फिर असमञ्जस. काट कर बोला—'अच्छी बात है। तो तुम्हें खड़ी देख कर लोग क्या समझेंगे? सामान पर बैठ क्यों न जाओ?'

सुनते ही वह होल्डार पर ख़ुद बैठ गई और चमड़े का सूट अलग सरका कर बोली—'आप भी बैठ जाइए।'

बागीश भी बैठ गया। तब स्त्री बोली—'मुझे स्टेशन पर छोड़ जाते तुम्हें कुछ विचार नहीं होता है? तुम्हें किसी भी नौकरानी

वग़ैरह की ज़रूरत नहीं है। बस, खाने-कपड़े पर मैं पड़ी रह सकती हूँ। मैं पीस लेती हूँ, झाड़ू बुहारी, चौका-बासन कर लेती हूँ, कपड़े धो लेती हूँ। ऐसी किसी नौकरानी की तुम्हें ज़रूरत नहीं है।"

बागीश ने उसे देखा। कठोर होकर कहा—'नहीं, मुझे ज़रूरत नहीं। मैं अमीर नहीं हूँ।'

मैं कुछ नहीं माँगती, रूखे-सूखे में रह लूँगी। पर तुम समझदार होकर स्टेशन पर मुझे कहाँ छोड़े जा रहे हो?"

बागीश को बहुत-बहुत बुरा लगा। उसने कहा—'मुझे नहीं मालूम था कि तुम ऐसी होगी! तुम क्या चाहती हो? यह लो, मेरे पास बीस हा रुपये और हैं। लेकर कोई मेहनत-मजूरी देखो।'

स्त्री ने चुपचाप रुपये ले लिये। कुछ नहीं कहा; बस बागीश के मुँह की तरफ़ देखती रही।

आगे बात-चीत का मौक़ा नहीं मिला। सामान के लिए क़ुली आ पहुँचा था। रेल आने वाली देख कर स्त्री तत्परता से उठ कर अलग खड़ी हो गई। रेल आई, क़ुली सामान लेकर ड्योढ़े दरजे की तरफ़ बढ़ा। बागीश भी जगह की जल्दी में मानों उधर बढ़ गया। स्त्री अपनी जगह से हिली न डुली, वहीं रह गई।

चलती रेल से बागीश ने देखा कि स्त्री जाती हुई रेल की तरफ़ मुँह किये वहीं की वहीं खड़ी थी।

५

बागीश को यह क्या हुआ? वह बदलने लगा। लिखना कम हो गया। निर्द्वन्दता कम हो गई। लोगों से मिलने-जुलने की तबि-

यत न रही। परिवार में रह कर वह अकेला पड़ने लगा। जैसे अनजान में भीतर बैठ कर कुछ उसे कुतरने लगा हो।

असल बात यह कि अंत तक वह सवालों को अपने से ठेलता आया था। समझता था कि यही उनका सुलझाना है। वह आज़ाद था और किसी अन्तिमता को नहीं मानता था। सब ठीक है, क्योंकि सब ग़लत है। इस लिए जीवन को एक अतिरिक्त हँसी-खुशी के साथ निभाये चले जाने को हठात् सब कुछ मान कर बिन-पाल तिरती नाव की तरह वह लहराता चला जा रहा था। ऐसे ही में वह लेखक बन गया। महान् वस्तु उसके लिए विनोद की हो सकती थी। जीवन की तरफ़ एक ख़ास हलकेपन का दृष्टिकोण उस में बस गया था। श्रद्धेय पुरुष उसकी क़लम के नीचे व्यंग बने रहते थे और सिद्धांत वहम। इस कारण लेखक की हैसियत से वह बहुत लोक-प्रिय था। एक की पूजा का विषय दूसरे के हास्य का विषय बने इससे अधिक आनन्द की बात क्या है। इस तरह दुनिया के सब पूजितों को उपहास्य और सब मान्यताओं को मूर्खता दिखा कर वह अधिकांश लोगों का मन ख़ुश करता था। यों बौद्धिक दृष्टि से दुनिया का वह बहुत उपकार भी करता था। उपकार, क्योंकि वहम तोड़ता था। पर अपकार भी करता ही था, क्योंकि श्रद्धा तोड़ता था। पर इस बार इलाहाबाद से लौटकर वह जैसे खुद चक्कर में आ गया था। अब तक लेखनी के रास्ते व्यङ्ग और विनोद करने और नीति को अनीति की सीख देने में उसे कुछ कठिनाई नहीं हुई थी। काम मज़े का था, शोहरत देता था और पैसा लाता था। पर

पैसे पर बागीश नहीं रुक सका। इस से पैसा भी बागीश पर नहीं रुका। इस हाथ ले, उस हाथ दे, बस यह हाल था। लेने वाला हाथ खाली रहे उतने काल देने वाले हाथ को भी कुछ आराम मिल जाता था। पर इधर से आया नहीं कि उधर गया नहीं। इस हालत में व्यसन बेचारा कोई उसे क्या लग सकता था। व्यसन है लत, लत लाचारी होती है। पर दोस्तों में बैठकर शराब चख ली थी। और रङ्गीनियों में किसी सङ्गी-साथी का साथ निबाह दिया, यह दूसरी बात है। यह तो शिष्टता है। नहीं तो धर्म का दम्भ न हो जाय! अतः बिगाड़ के रास्ते पर बड़े मज़े के साथ बिगड़ते मित्र के साथ वह कुछ क़दम चल लेता था। यह वह अपना कर्त्तव्य मानता था। पर उस में ख़ुद बिगड़ने की शक्ति न थी। वह कुछ बना ही ऐसा था कि लगा उस पर से गुज़र जाते और वह उन पर से गुज़र जाता था। दोनों एक दूसरे को छूते या अटकाते नहीं थे। जो हुआ, पार हुआ; उसका बन्धन कैसा? यहाँ तक कि याद, पुनर्विचार, पश्चात्ताप आदि के अस्तित्व की बात उसे समझ न आती थी।

पर इलाहाबाद से आकर यह उसे क्या हुआ? दुनिया को अब तक मज़े से देखता था और उस में मज़े से विचरता था। सैर-गाह और तमाशा नहीं तो दुनिया क्या है? भाँति-भाँति के फूल, सामान, साड़ियाँ और भाँति-भाँति की चतुराइयाँ चमन को यहाँ गुलज़ार बना रही हैं। उन सब में निर्द्वन्द्व वह क्यों न घूमता रहे? कुछ उसे क्यों फाँसे?—कोई सदाचार या दुराचार, नीति अथवा अनीति, स्वार्थ अथवा परोपकार, दृश्य अथवा वस्तु? सब है और

सब चल रहा है। किधर चल रहा है ? महाशून्य की ओर। अन्त में तो सब को मरना है। बस हो गया तय कि मरना है। अब उस मौत में कोई क्या देखे ? उसके पार क्यों देखे ? अन्त के अंतर में या उसके पार कुछ दीख तो सकता नहीं; इससे उधर आँख देना ही भारी मूर्खता है। बस यह तय करके नाचते गाते हुए वर्तमान के क्षणों पर तिरता-सा हुआ वह रहता था।

पर इलाहाबाद से आया कि कुछ दिनों में उसे प्रतीत होने लगा कि उसे शराब की ज़रूरत है। अन्दर कुछ फूटना चाहता है, जिसे डुबाना चाहिए। ग़म नहीं था जिसे ग़लत करना है। पर तो भी कुछ था, जो अनिच्छित होकर भी भीतर से एकदम शून्य नहीं हो पाता था। अब तक वह अपनेपन को अपने पास न रखता था। पर अब ज़रूरत हुई कि वह अपनेपन को भुलाये। यानी वह अनिष्ट वस्तु उसमें हो चली थी जिसका नाम है 'अपनापन' और जो अभिशाप है। उसी का दूसरा नाम है, 'आत्मालोचन।'

इससे बड़ी वेदना क्या है कि आदमी को आत्मा मिले ? माता शिशु को जन्म देती है, तो यह स्वयं उसका पुनर्जन्म होता है। व्यक्ति को अपनी आत्मा मिलती है, तो भी पुनर्जन्म बिना नहीं। जन्म के लिये मरना पड़ता है। कुछ ऐसा ही वागीश के साथ हो रहा था। वह मर रहा था। वह अपने भीतर किसी का जन्म नहीं चाहता था। पर उसके बावजूद एक बीज उस में गर्भस्थ हो पड़ा था, इसलिए अपने बावजूद उसे मरना पड़ रहा था।

किन्तु स्वेच्छापूर्वक मरने की कला किस को आती है ?

इससे जिस वस्तु को उसके नूतन जन्म को सम्भव करने के लिए उसमें से मर मिटना चाहिये, वागीश उससे चिपटा रहना चाहता था। परिणाम था एक घोर मानसिक द्वन्द्व। लिखना भाड़ में चला गया; शोहरत का ख़याल और लौकिक कर्त्तव्यों की चिन्ता चूल्हे में पड़ गई। बस, शराब की मात्रा उसकी बढ़ती जाने लगी।

इन ढङ्गों से हाल बिगड़ता ही गया। पैसे की कमी हुई। पर कमी में रहने की उसकी आदत नहीं थी। न उसमें बेईमानी का बीज था। परिणाम यह हुआ कि जिस किसी से वह उधार ले लेने लगा। लिया उधार लौटाने की उसे याद ही नहीं रहती थी। ऐसे लगभग एक साल हो गया।

इस बीच 'छाया' के मैनेजर के नम्रतापूर्ण कई पत्र आये। पत्र पाकर वह हँस देता था। धीमे-धीमे पत्रों में विनय की जगह तकाज़ा आने लगा। तब भी उसने जवाब नहीं दिया। तक़ाज़े में एक बार कुछ अविश्वास की गन्ध उसे मिली। उसने मैनेजर को लिखा कि चालीस रुपये क्या कभी तमाशे पर आपने ख़र्च नहीं किये हैं? समझिये, यह चालीस भी तमाशे में गये। और तमाशे को तमाशे की तरह आप देखें तो जितना बुरा हो, उतना ही बढ़िया कहा जा सकता है। अब कहानी मुझ से न माँगें, न रुपये। रुपये डूब गये और कहानी वाला भी डूब गया।

ख़त लिखकर वागीश ने सोचा होगा कि छुट्टी हुई। पर मैनेजर की सज्जनता समाप्त होने वाली न थी। पत्र आया कि आपकी कहानी से पत्र की शोभा और प्रतिष्ठा बढ़ती है। रुपये

की कोई बात नहीं। बीस रुपये और भेजे जाते हैं। कहानी आप से मिले, इसकी हिन्दी-जगत को प्रतीक्षा है। पत्र पढ़ कर बागीश ने तभी फाड़ फेंका और मनीआर्डर लाने वाले डाकिये को धमका कर घर से बाहर निकाल दिया।

ऐसे कुछ दिन और बीते। बागीश राह पर न आया। उसे भयङ्कर युद्ध करना पड़ रहा था। शराब की मात्रा काफ़ी बढ़ गई थी। और अब सस्ते क़िस्म की शराब मिल पाती थी। इस बीच उसने गान्धी-दर्शन पर दो-एक निबन्ध लिखकर अख़बारों में भेजे, जिनकी मर्मज्ञों में बहुत प्रशंसा हुई। उस पर और कइयों ने लेख लिखे। प्रशंसा के ऐसे सब लेखों को उसने टुकड़े-टुकड़े कर के बाहर फेंक दिया। वह अब शराब से जब ख़ाली होता, कमरे में गांधी जी की तस्वीर लगाकर उसकी तरफ़ देखता रहता। कभी देखते-देखते रोने लगता। फिर उसके बाद बोतल खोल कर पीने लगत।

ऐसी हालत में 'छाया' का पत्र आया कि अब बहुत हुआ; कहानी दीजिये या रुपये लौटाइए। कहानी के नाम पर वह जल-भुन गया। कलेजे में आग लग रही हो, पर उसकी कहानी भी हो सकती है! शहर में आग लगती है और अख़बारों के रिपोर्टरों की कहानी बनती है। अख़बारी रिपोर्टरों का कहानी देने का काम आग में जलने वालों के जलने के काम से ज़्यादा क़ीमती हो, यह सच हो सकता है; पर जो जल रहा है, वही उस जलने के सौन्दर्य का बखान कैसे करे? ज्वालामुखी अपनी तस्वीर को देख

कर क्या कहेगा ? उस तस्वीर का यही भाग्य है कि वह ड्राइङ्ग-रूम का सौन्दर्य बढ़ाये । नहीं तो कहीं अपनी ही असलियत के पास पहुँचने की वह तस्वीर हिम्मत करेगी तो पास तक पहुँच नहीं पायगी कि बीच ही मे फुक जायगी ।

इसलिए 'छाया' की कहानी की माँग पर वह दाँत किस-किसा कर रह गया । उसको ऐसा गुस्सा आया कि वह अपने को ही न काट ले । सोचा कि लिख दे कि चालीस रुपये के बग़ैर किसी की जान निकल रही हो तो तार देना; तब रुपये फ़ौरन यहाँ से आयँगे; पर उसने यह नहीं लिखा । क्योंकि उसको एकदम निश्चय हो गया कि चालीस रुपये के बिना या उसके एवज़ के बिना सचमुच मैनेजर की जान ही निकल रही है । वह चाहता था कि वह जान ज़रूर बचे, क्योंकि वह जान ज़रूर पैसे की उम्मीद में अटकी है । इसलिए वह आँखें फाड़-फाड़ कर सिर के ऊपर लगी गान्धी की तस्वीर और उसके पार छत में देखता था कि कहाँ से चालीस रुपये निकल आवें । वह जल्दी से जल्दी उतने रुपये 'छाया' को भेज देना चाहता था । क्योंकि प्राण-रक्षा का सवाल था । पर ऐसी हालत और चालीस रुपये……!!

'हराम का नहीं, काम का खाना चाहिए ।'—मैं किस काम का खा रहा हूँ ? किस काम का खाता रहा हूँ ? क्या लेखकी काम है ? शोहरत काम है ?……असल में वह जहाँ था उस ज़मीन पर डगमगा चला था । पैर लड़खड़ा गये थे, पर वह सँभल कर फिर-फिर वहीं खड़ा होना चाहता था । लेकिन ज़मीन नीचे से बराबर

खिसक रही थी। इससे उसके ऊपर मज़बूती से पैर बाँध कर खड़ा होना सम्भव ही न था। उसको तो गिरना ही होगा। पर गिर कर टिकना कहाँ होगा—यह वह नहीं जानता था। उसे मालूम हुआ कि गांधी एक आदमी है जो उस असली ज़मीन पर खड़ा है। पर मेरे पैर तो उस ज़मीन को छू भी नहीं पाते हैं। कहाँ मैं खड़ा होऊँ? इस तरह अपनी ज़मीन से उखड़ कर वह जैसे अतल पाताल में गिरता जा रहा था। ' हराम, काम! काम, हराम!! वह हरामी है, हरामी है, हरामी है !!!

तब उसे वह स्त्री याद आती थी, जिसको हराम का नहीं, काम का खाने की सीख उसने दी थी। उसने जी-तोड़ कर काम किया था, फिर भी वागीश ने उसे हराम का नहीं, काम का खाने की शिक्षा दी थी। कहा था—'आवारा न रहना, काम करना।'

पर वागीश ख़ुद क्या कर रहा था? उसने क्या आवारापन को ही एक कला का रूप नहीं दे लिया था? क्या उसने अपनी ओर से छल भी उसमें और नहीं जोड़ दिया था? इस तरह उसकी शोहरत और उसका बड़प्पन क्या सब एक बहुत बड़ा माया-जाल ही नहीं था? अगर उस औरत का हाथ फैला कर भीख माँगना झूठ था तो क्या उसका यह किताबें काली करके पेट भरने और शिक्षा देने का दम भरने का धन्धा महा झूठ नहीं था?

पर इस शङ्का के अतल में उसे तल न मिल रहा था। इस से ऊपर गान्धी की तस्वीर को देख कर रोता था और फिर रह कर बोतल सँभाल लेता था।

कुछ दिन और बीते कि 'छाया' का नोटिस आया कि चालीस रुपये सात रोज़ के अन्दर भेजो; नहीं तो मामला वकील के सुपुर्द किया जा रहा है। पढ़ कर बागीश ने चैन की साँस ली। वह खुश हुआ कि किसी के मरने की बात अब नहीं है, अदालत उसको जिला देगी। इसीलिए नोटिस पाकर वह उस बारे में बेफिक्र हो गया। अब दया का प्रश्न न था। जिसको अदालत का बल प्राप्त है, उसको दया देना उसका अपमान करना है। और बागीश कितना ही गिर जाय, इतना अधम न हो सकता था कि दयनीय पर दया न करे अथवा सम्माननीय का अपमान करे।

(६)

पर हाय! बागीश को दण्ड पाने का सन्तोष न मिला। वह चाहता था कि उसकी खूब फ़जीहत हो। उसने जो लेखकी और प्रसिद्धि का महाझूठ अपने चारों ओर रचा था, वह झूठ टूट कर धूल में मिल जाय। उसकी इज्ज़त चिथड़े-चिथड़े होकर कीचड़ में सन जाय। वह जेल पाये और सख़्त से सख़्त अपमान पाये। उसे लौकिक कर्त्तव्य सब मिथ्या और अपने को दण्डित करने का ही एक परम कर्त्तव्य सत्य दिखलाई देता था। इस समय उसकी हालत थी कि अगर सौ रुपये ज़बर्दस्ती कोई उसके हाथ में दे जाता तो वह सौ के सौ किसी राह चलते अंधे को दे देता। पर 'छाया' को पाई न भेज कर उस ओर से वह बेइज़्ज़ती ही चाहता था, उससे सस्ती कुछ वस्तु पाकर किसी तरह भी छूट रहना नहीं चाहता था। दुनियाँ जब तक उसे पामर न देख ले

और पामर न मान ले, तब तक मानो उसे सन्तोष न होगा। क्योंकि अभिमान का पाप करने वाला इससे कम दण्ड के योग्य नहीं है। वागीश, तू लेखक, तू ज्ञानी, नीति सिखाने वाला! अरे दम्भी! अब तू इसी अधमाधम नरक में पड़!

इस तरह की उसकी भावनाएँ थीं, और वह गान्धी की तरफ़ देख कर रोता और शराब पीकर हँसता था।

पर उसका चाहा कुछ न हुआ। क्योंकि एक दिन वह इलाहाबाद वाली स्त्री आई और उसने चालीस रुपये वागीश को लौटा दिये। वागीश ने उस पर डा, डपटा, गालियाँ दीं, नोटों को फाड़ देने की धमकी दी। पर औरत सब पी गई, और न वहाँ से टली न रुपये वापिस लिये।

वागीश ने कहा—'तुम अन्धी तो नहीं हो? मैंने कब तुम्हें रुपये दिये? कैसे रुपये? वह कोई और होगा। देखती नहीं हो, यह कैसी जगह है? इसलिए मुझे होश रहते तुम यहाँ से चली जाओ।' पर, स्त्री ने कुछ नहीं सुना और रुपये डाल कर उस कमरे की यहाँ-वहाँ बिखरी चीज़- बस्त सँभालने में लग गई।

वागीश से यह नहीं हुआ कि लातें मार कर उस स्त्री को वहाँ से निकाल दें, अगर्चे वह चाहता यही था।

(७)

वह स्त्री कमरे को ज़रा सँभाल कर थोड़ी देर में चली गई, लेकिन अगले दिन फिर आई, उससे अगले दिन फिर—उससे उससे अगले दिन फिर।

खुद उस स्त्री के मुँह से वागीश को मालूम हुआ कि वह व्यभिचारिणी थी। वागीश की सहानुभूति में उसने जाने क्या देख लिया था। उसकी काम की मुस्तैदी सिर्फ़ वागीश का मन हरने के लिए थी। उस पर उन्नीस रुपये कर्ज़ होने की कहानी गढ़न्त थी। वह वागीश को रिझा कर उससे कुछ ठगना चाहती थी। वह बाज़ार में बैठ चुकी है, जेल काट चुकी है। इसी तरह और भी उसने अपने पाप की कहानियाँ सुनाईं।

लेकिन उस दिन इलाहाबाद से वागीश के जाने के दिन से उसने मेहनत से काम किया है। वह सच कहती है कि उसने हराम का नहीं खाया, काम का खाया है। और उसी में से चालीस रुपये बचाये हैं। उस स्त्री ने माथा धरती पर टेक कर कहा कि ये रुपये अब वह वापिस नहीं लेगी।

इस तरह तीन रोज़ वागीश के पागलपन, उसकी झिड़की और बदहवासी के बावजूद स्त्री अपनी पूरी पाप-कहानी सुना गई। तब चौथे रोज़ वागीश ने कहा—'सुनो, यह गिलास-बोतल मोरी में पटक आओ। और मनीआर्डर लिखता हूँ, डाकखाने में दे आना। ऊपर से जो पैसे लगें, लगा देना और दो दिन यहाँ मत आना। क्योंकि पूरे दो दिन मैं सोऊँगा।'

'उसके बाद…'—वह कहना चाहता था, पर कह नहीं सका—'मैं भी हराम का नहीं, काम का खाऊँगा।'

चालीस रुपये आये और गये। फिर आये और फिर गये। वह कैसे, उसका वृत्तान्त यहाँ समाप्त होता है।

किसका रुपया

रमेश, अनमना, बढ़ता चला आया था, सो अनमना बढ़ता चला गया। उद्देश्य उसमें खो गया था। गिनती की भाँति पड़ते हुए उसके क़दम ही थे जो उसे लिये जा रहे थे। स्कूल में मास्टर ने उसे मारा था। कसूर, कि आज पाँच में दो सवाल उसके ग़लत निकले। क्लास का वह अव्वल लड़का है। हिसाब में होशियार है। मास्टर सब लड़कों को दिखा कर उसकी तारीफ़ करते हैं। आज उसी के दो सवाल ग़लत आये, तो मास्टर को गुस्सा आ गया। गुस्सा न आता, अगर और लड़कों में किसी के भी सब सवाल सही न आते। मास्टर रमेश को बहुत चाहते थे। पर जब उसी रमेश के दो सवाल ग़लत और दूसरे एक लड़के के पाँचों सवाल सही आये तो मास्टर को बड़ी झुँझलाहट हुई।

तिस पर एक शरारती लड़के ने कहा,—"मास्टर जी, तीन तो मेरे भी सही हैं। और आप रमेश को होशियार बताते हैं!"

मास्टर ने कोई जवाब नहीं दिया। गम्भीरता से कहा—"रमेश, यहाँ आओ।"

रमेश डरता-डरता पास आया।

"हाथ फैलाओ।"

रमेश ने हाथ फैलाये। मास्टर ने हाथ के फुटे को कसकर दो-तीन बार उसकी हथेली पर मारा और कहा, "जाओ, उस कोने में मुर्गा बनकर खड़े हो जाओ।"

रमेश क्लास का मानीटर था। मास्टर की बात सुन कर वह गया नहीं, वहीं खड़ा रहा। मास्टर ने कहा—"सुना नहीं ? जाओ, मुर्गा बनो।"

रमेश चल कर अपनी जगह आया और बस्ता खोल कर बैठ गया।

मास्टर ने यह देखा तो गरज कर कहा—"रमेश! सुना नहीं हमने क्या कहा ? जाकर मुर्गा बनो।"

जवाब में रमेश गुम-सुम बैठा रहा।

मास्टर तब अपनी जगह से उठ कर आये और कान पकड़ कर रमेश को खड़ा करते-करते दो-तीन चपत कनपटी पर रख दिये फिर धकियाते हुए कहा—"निकल जाओ मेरे क्लास से।"

रमेश क्लास से निकलकर चला आया। घर पर आया तो माँ ने पूछा,—"क्या है ?"

रमेश चुप।

"क्या है ? ले, ये सन्तरे लुकाट तेरे लिए रखे हैं।"

रमेश गुम-सुम बैठा रहा और कुछ नहीं छुआ।

माँ ने हँसकर कहा,—"आज के पैसे का ऐसा क्या खाया

था जो भूख नहीं लगी ? और हाँ, क्या आज स्कूल इतनी जल्दी हो गया ?"

जवाब में रमेश ने सवेरे मिला पैसा अपनी जेब से निकाला और तखत पर रख दिया, बोला-चाला नहीं।

माँ ने पूछा—"क्यों रे, क्या हुआ है जो ऐसा हो रहा है ?"

रमेश नहीं बोला और बीच बात उठकर दूसरे कमरे में खाट पर पैर लटका कर अँगुली के नहों को मुँह से कुतरता हुआ बैठा रह गया।

माँ फल की तश्तरी लेकर आई। कहा—"बात क्या है ? मास्टर ने मारा है ?"

प्यार से रखे माँ के हाथों को रमेश ने अपने कंधे पर से अलग झटक दिया और जाने क्या बुदबुदाता रहा।

माँ ने चिरौरियाँ कीं, प्यार से पूछा, मुँह में छिला लुकाट ज़बरदस्ती दिया। पर रमेश किसी तरह नहीं माना। वह जाने ओठों ही ओठों में क्या बुदबुदाता था। त्यौरियाँ उसकी चढ़ी हुई थीं और कुछ साफ़ न बोलता था। होते-होते माँ को भी गुस्सा आगया। उसने भी दोनों तरफ़ चपत रख दिये, और कहा—"बद-शऊर से कितना कह रही हूँ, लेकिन जो कुछ बोले भी। हर वक्त झिकाने के सिवाय कुछ काम ही नहीं, हाँ तो। बोलना नहीं है तो इस घर में क्यों आया था ? न आके मरे सामने, न कलेश मचे।"

रमेश इस पर टुक देर तो वहीं गुमसुम बैठा रहा। फिर खाट से खबर मुँह उठा कर घर से बाहर होने चला।

माँ ने कहा—"कहाँ जाता है? चल इधर।"

पर रमेश चल कर इधर नहीं आया, आगे ही बढ़ता गया। इस पर ज़रा देर तो माँ अनिश्चित मान में रहीं, फिर झपटी आयीं और सीढ़ी उतर दरवाज़े से बाहर झाँकी, तो गली की मोड़ तक रमेश कहीं दिखलायी नहीं दिया। माँ इस पर झींकती बड़-बड़ाती भीतर गयीं। और सोचने लगीं कि 'यह उन्हीं के काम हैं कि ज़रा से लड़के को इतना सिर चढ़ा दिया है। तारीफ़ कर करके आज यह हाल कर दिया है। माँ को तो कुछ समझता ही नहीं। मेरा क्या, ऐसे ही बिगड़ कर आगे कुल को दाग़ लगायगा तो मैं क्या जानूँ। अभी हाथ में नहीं रखा तो लड़का फिर आगे क्या बस में आने वाला है। उचक्का बनेगा, उचक्का, और नहीं तो।"

उधर रमेश बढ़ा चला जा रहा था। चलने में उसके दिशा न थी। न कदमों में अगला-पिछला था। चलते-चलते वह घास के मैदान में आ गया और वहाँ एक जगह बैठ गया। धूप में उतनी तेज़ी न थी। धीरे धीरे वह ढलती जा रही थी। दूर तक कटी दूब का गलीचा बिछा था। पार पेड़ों से घिरी सड़क बल खाती जा रही थी। एकाध छुटी गाय घास चर रही थीं। ऊपर आस्मान के शून्य विस्तार में इक्की-दुक्की चील उड़ती दीखती थी। बैठे-बैठे उसे आधा, एक, दो घंटे हो गये। इस बीच वह कुछ ख़ास नहीं सोच सका था। जहाँ था वहीं रहा था। उसके मन में न मास्टर था, न माँ थी। मन में उसके कुछ नहीं था। बस एक अजीब बेगानगी थी कि वह अकेला है, अकेला, अकेला। सब है, पर कुछ

नहीं है। बैठे-बैठे गुस्सा और क्षोभ उसका सब धुल गया था। उसमें अभियोग नहीं था, न शिकायत थी। बस, एक रीतापन था कि जैसे कहीं कुछ भी न हो।

देखा कि एक पिल्ला जाने कहाँ से बिछुड़ कर उसके आसपास कुछ ढूँढ़ रहा है। वह कूँ-कूँ कर रहा है। कभी रुक कर कुछ सोचता है, और तभी भाग छूटता है। रमेश की तबियत हुई कि वह उसके साथ खेले। जब तक पास रहा, वह पिल्ले की तरफ़ देखता रहा। उसकी अठखेलियाँ उसे प्यारी लग रही थीं। पर जाने वह पिल्ला उससे कितनी दूर था—इतनी दूर कि मानों उसके और इसके बीच समुन्दर फैला हो। वह खुद इस पार हो, और पिल्ला दूसरी पार, और वह उसके खेल में भाग न बँटा सकता हो। पिल्ला खेल के लिए हो और वह—बस देखने के लिए।

धीरे-धीरे वह पिल्ला कूँ-कूँ करता पास आ गया। बिल्कुल पास आगया। रमेश मुग्ध बना उसे देखता रहा। पर मुँह से आवाज़ देकर या हाथ फैला कर उसे बुला न सका। पिल्ला पास से और पास आता हुआ उसे बड़ा प्यारा लगता था। और वह क्यों एकदम आकर रमेश की देह से सट नहीं जाता। रमेश एकदम निष्क्रिय और निर्विरोध पड़ा था। वह खुश होता कि पिल्ला उसकी छाती पर चढ़ कर उसके एकाकीपन को भंग कर डालता। वह चाहता था कि कोई उसे अपने से छुड़ा दे। अपने में होकर वह एकदम अवसन्न और निरर्थक बन रहा था, जैसे वह है ही नहीं। पर पिल्ले ने पास आकर रमेश के मुँह के पास सूँघा, कमीज के

ओर को सूँघा, फैले हुए पैरों की अँगुलियों के पास नाक लाकर उसे सूँघा, और फिर लौट कर चल दिया।

रमेश उत्सुक था। वह बाट में था कि यह पिल्ला ज़रूर उससे उलझेगा। पर इतने पास आकर जब वह लौट चला तो रमेश ने एक भारी साँस छोड़ी। मानों उसके मन में हुआ कि ठीक है, यह भी मुझे नहीं चाहता। कोई मुझे नहीं चाहता।

इसी तरह काफ़ी देर वह बैठा रहा। अब साँझ हो चलेगी। दूर पास पगडंडी पर घास में लोग आ जा रहे हैं। दिन का काम शाम के आराम के किनारे लग रहा है। पेड़ चुप हैं। सड़क पर मोटरें इधर से उधर भागती निकल जातीं हैं। होते-होते सहसा वह उठा। उसके मन में कुछ न रह गया था। न इच्छा, न अनिच्छा, न क्रोध, न खुशी। बस एक अलक्ष्य के सहारे वह अपने घर की ओर चल दिया।

चलते-चलते, अरे, यह क्या? वह दो डग लौटा, झुक कर देखा। सचमुच रुपया ही था! उसने उसे दबाया। इधर-उधर से देखा। एक दम रुपया ही था। उसे बड़ी ख़ुशी हुई। लेकिन फिर सहसा अपनी ख़ुशी को मानों ग़लत जानकर वह गम्भीर हो गया। रुपया जेब में रख लिया और धीर-गम्भीर बनकर आगे चलने लगा। पर पैसे की कीमत का उसे पता था। एक पैसे में मिठाई की आठ गोलियाँ आती हैं। एक रुपये में चौंसठ पैसे होते हैं। चौंसठ में से हर एक पैसे की आठ-आठ गोलियाँ और पेंसिल लाल-नीली और पेंसिल बनाने का चाकू और रबर और फुटा और परकार और

मिठाई और खिलौने, हाँ, और नई स्लेट और चॉक—चॉक की लम्बी-लम्बी बत्तियाँ और काँच की रंग-बिरंगी गोलियाँ और लट्टू और पतंग और गेंद और सीटी.. इस तरह बहुत-सी चीज़ों की तस्वीरें उसके मन में एक-एक कर आने लगीं। वे बड़ी जल्दी-जल्दी आ रहीं और गुज़र रही थीं। उसके मन की आँखों के आगे से जैसे एक जलूस ही निकलता चला जा रहा था। उसको देखकर मन में उछाह उछला आता था। पर अब भी वह ऊपर से गम्भीर और आहिस्ते-आहिस्ते चला जा रहा था।

धीमे-धीमे क़दमों में तेज़ी आ गयी। मानों अब उन में लक्ष्य है। पैर उसे नहीं, वह पैरों को चला रहा है। चेहरे पर भी अभाव अब नहीं रह गया है। अपनी कल्पनाओं से अब उसे विरोध नहीं है, वह उनका हमजोली है। उनके रंग में हमरंग है। जुलूस उसी का है और उसमें चलने वाली रंग-बिरंगी चीज़ें उसकी तावेदार हैं। उसने जेब से रुपया निकाला और देखा; फिर रखा, फिर निकाला, और फिर देखा। वह जल्दी घर पहुँचना चाहता था। वह माँ को कहेगा—नहीं, नहीं कहेगा। रुपये को जेब में रख लेगा और कुछ नहीं कहेगा। पर नहीं, मिठाई माँ को भी दूँगा। सब को दूँगा। सब को, सब को मिठाई दूँगा।

इस तरह चलते-चलते रमेश अपने घर के दरवाज़े पर पहुँचा कि वहीं से उत्साह में चिल्लाया—"अम्माँ ! अम्माँ !"

उसकी अम्माँ की कुछ न पूछिए। रमेश के चले जाने पर कुछ देर तो वह रूठी रहीं। फिर यहाँ-वहाँ डोल कर उसकी खोज

करने लगी। पर रमेश यहाँ मिला, न वहाँ। कायस्थों के घर की शान्ति से पूछा तो पता नहीं। और अग्रवालों के यहाँ के प्रकाश से पूछा तो उसे भी खबर नहीं। वह सारा मुहल्ला छान आयीं, पर रमेश कहीं न मिला। पहिले तो इस पर उन्हें बड़ा गुस्सा आया। फिर दुश्चिन्ताएँ घेरने लगीं। आख़िर हार-हूर कर घर में अपने काम से लगीं और दफ़्तर गये रमेश के बाप को कोस-कोस कर मन भरने लगीं। उन्होंने ही तो उसे ऐसा बिगाड़ कर रख दिया है। अपनी ही चलाता है, और ज़रा कुछ कह दो तो मिज़ाज का कुछ ठिकाना नहीं। जाने कहाँ जाकर मर गया है कमबख़्त। भला कुछ ठीक है। मोटर है, साइकिल है; मुसलमान हैं, ईसाई हैं। फिर ये मुड़कटे डंडे वाले कंजरे घूमते फिरते हैं। कहते हैं बच्चों को झोली में डाल कर ले जाते हैं। कहाँ जाकर नस गया, मर मिटा! मेरी आफ़त है। बस सब काम में मैं ही। भगवान मुझे उठा क्यों नहीं लेता......

दरवाज़े से रमेश की आवाज़ सुनते ही उनका दिल उछल पड़ा। सोचा कि आने दो, उसकी हड्डियाँ तोड़ कर रख दूँगी। दुष्ट ने मुझे कैसा सताया है। पर इस ख़्याल के बावजूद उनकी आँखों में पानी उतर आने को हो गया। और भीतर से उमग कर बालक के लिए बड़ा प्यार आने लगा।

रमेश ने कहा—"अम्माँ, अम्माँ! सुन—अच्छा मैं नहीं बताता।"

अम्माँ ने अपने विरुद्ध होकर डाट कर कहा—"कहाँ गया

था रे तू ? यहाँ मैं हैरान हो गयी हूँ। अब आया तू!"

रमेश ने वह कुछ नहीं सुना। बोला—"अम्माँ सच कहता हूँ। दिखाऊँ तुम्हें ?"

अम्माँ ने कहा—"क्या दिखायगा ? ले, आ, भूखा है कुछ खा ले।" कह कर माँ ने रमेश के कंधे पर प्यार का हाथ रखा और रमेश छिटक कर दूर जा खड़ा हुआ। बोला—"पास से नहीं, दूर से देखो। नहीं तो ले लोगी। ये देखो।"

"अरे रुपया ! कहाँ से लाया है ?"

"रास्ते में पड़ा था।"

"देखूँ !"

रमेश ने पास आकर रुपया माँ के हाथ में दे दिया। माँ ने उसे अच्छी तरह परख कर देखा—एक दम खरा रुपया था।

रमेश ने कहा—"लाओ।"

माँ ने कहा—"तू क्या करेगा। ला, रख दूँ।"

"मेरा है"।

"हाँ, तेरा है। मैं कोई खा जाऊँगी ?"

माँ का ख्याल था कि रमेश रुपया बेकार डाल आयगा। रुपये पाने पर वह बेहद खुश थीं। इस रुपये में अपनी तरफ़ से कुछ और मिला कर, सोचती थीं कि, रमेश के लिए कोई बढ़िया इनाम की चीज़ मँगा दूँगी। ऐसे उसके हाथ से रुपया नाहक बरबाद जा-यगा। पर रमेश के मन में से अभी वह जलूस मिटा नहीं था। सोचता था कि मैं यह लाऊँगा, वह लाऊँगा। और मिठाई लाकर

सब को खिलाऊँगा। पर यह क्या कि उस की माँ अन्याय से रुपया हीं छीन लेना चाहती हैं। उसको यह बहुत बेजा मालूम हुआ। उसने कहा—"रुपया मेरा है। मुझे मिला है।"

माँ ने कहा—"बड़ा मिला है तुझको! कमाये तब मेरा तेरा करना। चुप रह।"

रमेश का अन्तःकरण यह अन्याय स्वीकार नहीं कर सका। उसने कहा—"रुपया तुम नहीं दोगी?"

माँ ने कहा—"नहीं दूँगी।"

रमेश ने फिर कहा—"नहीं दोगी?"

माँ ने कहा—"बड़ा आया लेने वाला! चुप रह।"

नतीजा यह कि रमेश ने हाथ पकड़के रुपया लेने की कोशिश की। माँ ने हँस कर मुट्ठी कस ली। कहा—"अलग बैठ।"

पर रमेश अलग न बैठ कर मुट्ठी पर जूझता रहा। माँ पहले तो टालती रहीं। फिर बालक की बदशऊरी पर उन्हें गुस्सा आने लगा। और जब ज़ोर लगाते-लगाते अचानक रमेश ने उनकी मुट्ठी पर दाँत से काट खाया तो माँ ने एकाएक ऐसे ज़ोर से कनपटी पर चपत दी कि बालक सिट-पिटा गया। हाथ उससे छूट गया और क्षणिक सहमा हुआ वह माँ की ओर देखता रह गया, मानो पूछता हो कि क्या यह सच है? जवाब में उसने माँ की आँखों में चिनगारी देखी। माँ के मन में था कि यह लड़का है कि राक्षस? बदमाश काटता है।

माँ की तरफ़ निमिष भर इस तरह देखकर वह अपनी कन-

पटी को मलता हुआ गुम-सुम वहाँ से अलग चल दिया, रोया नहीं। कुछ दूर चलने पर माँ ने रुपया उसकी तरफ़ फेंक दिया। रमेश ने उस तरफ़ देखा भी नहीं और चलता चला गया।

रमेश के पिता साढ़े पाँच बजे दफ़्तर का काम निबटा घर लौटे। साइकिल आज नहीं थी, इससे सड़क छोड़ कर घास के मैदान में रास्ता काट कर चले। रास्ते में क्या देखते हैं कि एक दस-ग्यारह बरस की लड़की, भयभीत, इधर-उधर रास्ते पर आँख डालती हुई चली आ रही है। सलवार पहिने है और कमीज़, और ऊपर सर से होती हुई एक ओढ़नी पड़ी है। लड़की मुसलमान है और उसके एक हाथ में छोटी-सी पोटली है। पैर जल्दी-जल्दी रख रही है और इधर-उधर चारों तरफ़ निगाह फेंकती हुई बढ़ रही है। चेहरे पर हवाइयाँ हैं और आँखों में आँसू आ रहे हैं। साँस भरी-सी लेती है और कुछ मुँह ही मुँह में बुदबुदाती है। रमेश के बाबू जी ने पूछा—"क्या है बेटी?"

लड़की पहले तो सहमी-सी देखती रही। फिर रोने लगी। "हाय रे, मैं क्या करूँ? अम्माँ मुझे बहुत मारेंगी। अम्माँ मुझे बहुत मारेंगी। हाय रे, मैं क्या करूँ?"

बाबू जी ने पूछा—"बात क्या है, बेटी?"

लड़की बोली—"एक रुपया और एक इकन्नी थी। कहीं रास्ते में गिर गयी!"

"कहाँ गिर गयी? और कब?"

लड़की ने कहा—"मैं जा रही थी। यहीं कहीं गिर गयी। घर

के पास पहुँच कर देखा कि गिर गयी है। यह अभी हाल हाल ही जा रही थी। अजी, अभी हाल। बहुत देर नहीं हुई। हाय रे, अब मैं क्या करूँ? अम्माँ मुझे मारेंगी। अम्माँ मुझे बहुत मारेंगी।

लड़की डर के मारे बदहवास थी। सत्रह आने की कीमत इस लड़की या उसकी माँ के लिए ज़रूर सत्रह आने से कहीं ज़्यादा थी। क्योंकि लड़की ग़रीब घर की मालूम होती थी। बाबू जी ने पूछा—"रुपया कहाँ गिरा, बेटी?"

लड़की ने यहाँ-वहाँ और सभी जगह बताया कि गिरा हो सकता है। तब बाबू जी ने कहा कि अब तो रुपया क्या मिलेगा और लड़की को दिलासा देना चाहा। पर लड़की का डर थमता न था। "हाय रे, अम्माँ मुझे बहुत मारेंगी। हाय री दैया मैं क्या करूँ। अम्माँ बहुत मारेंगी।"

करुणा के वश रमेश के बाबू जी उस रास्ते पर पीछे की ओर, और आगे की ओर, काफ़ी दूर-दूर तक उस लड़की के साथ घूमे। पर रुपया नहीं दीखा, और इकन्नी भी नहीं दीखी। ऊपर से रोशनी भी कम हो चली थी। बाबू को बड़ी दया आ रही थी। लड़की के मन में हौल भरा था। "हाय रे, अम्माँ क्या कहेंगी? अम्माँ मुझे बहुत मारेंगी।"

मालूम होता था कि लड़की को माँ का डर तो है ही, उसके नीचे यह भी विश्वास है कि रुपया खोना सच ही इतना बड़ा कसूर है कि उस पर लड़की को मार मिलनी चाहिये। इसी से वह डर ऊपर का नहीं था, बल्कि उसके भीतर तक भरा हुआ था।

वह फटी आँखों से इधर-उधर देखती थी और कहीं कुछ सफ़ेद मिलता तो लपक कर उसी तरफ़ झुकती थी। पर हाथ में कभी चीनी का टुकड़ा आ रहता, तो कभी कोई सूखा लत्ता या कभी सिर्फ़ चमकदार पथरी !

रमेश के बाबू जी ने काफ़ी समय लगा कर उसे सहायता दी। आख़िर रुपये और इकन्नी में से कुछ नहीं मिला तो यह कहते हुए वह विदा लेने लगे कि, "बेटा, अब अँधेरा हुआ, कल देखना। क़िस्मत हुई तो शायद मिल भी जाय।"

लड़की सुन कर इस आख़िरी हमदर्द को जाते हुए देख कर खें फाड़े खड़ी रह गयी।

बाबू बेचारे क्या करते ? दिल को मज़बूत कर घर की तरफ़ मुँह उठाते हुए चलते चले गये। ख़याल आया कि चलूँ, लौट कर एक रुपया उसके हाथ में रख दूँ, और कहूँ—"बेटी इकन्नी तो इसके पास पड़ी हुई मिली नहीं, यह अपना रुपया लो।" पर इस ख़याल को बराबर ख़याल में ही लिये और दोहराते हुए वह एक पर एक डग बढ़ाते घर की तरफ़ चलते चले गए।

घर पहुँचे। बाहर सड़क पर एक तरफ़ देखा कि बुद्ध भगवान की तरह विरक्त रमेश बाबू बैठे हैं। पिता ने कहा—"अरे रमेश, क्यों क्या है ? यहाँ क्यों बैठा है ?"

रमेश ने सुन कर मुद्रा और पारलौकिक कर ली और कोई जवाब नहीं दिया।

पिता ने हाथ के झोले को दिखा कर कहा—"अरे चल,

देख तेरे लिए क्या लाया हूँ ?"

रमेश ने न देखा, न सुना। कोई उससे मत बोलो। किसी का उससे कुछ मतलब नहीं। तुम सब जियो, वह अब मरेगा

रमेश के पिता मुस्करा कर आगे बढ़ गये। सोच लिया इस घर में जो है, रमेश की माँ है।

अन्दर आकर देखा कि रमेश की माँ भी अनमनी हैं। बरामदे में पड़े हुए रुपये को उठाकर कमरे में घुसते हुए कहा—"क्यों, क्या बात है ? आज तो चूल्हा भी ठंडा है।

मालूम हुआ कि बात यह है कि रमेश की माँ को अभी अपने मैके पहुँचाना होगा। क्योंकि इस घरमें जब उसे कुछ चीज़ ही नहीं समझा जाता है तो उसके रहने और सब का जी जलाने से क्या फ़ायदा है ! तुम मर्द होकर समझते हो कि दफ़्र के सिवा तुम्हें दूसरा काम ही नहीं है। और इधर यहाँ तुम्हारा लाड़ला जो बिगड़ रहा है, उसकी ख़बर नहीं लेते। सिर तो मेरे सब बीतती है। नहीं-नहीं मुझे कल की गाड़ी से बाप के घर भेज दो। काँटा कटेगा और तुम सब खुश होगे। इत्यादि।

रमेश के पिता ने कहा कि वह तो ख़ैर देखा जायगा। पर यह रुपया कैसा बाहर पड़ा था, लो।

मालूम हुआ कि रमेश को माँ को उस रुपये में कोई आग नहीं देनी है, फेंक दो उसे भाड़ में।

अब तो रमेश के पिता का माथा ठनका। पर उन्होंने धीरज से काम लिया। रमेश की माँ को मनाया, उठाया। इस आश्वासन

पर वह मन गई और उठ गई कि रमेश को सुधारना होगा। पर सब के बाद रुपये का हाल मालूम किया तो रमेश के पिता सिर पकड़ कर सुन्न रह गये ! कुछ देर में सुध हुई तो तेज़ चाल से उस घास के मैदान में पहुँचे कि ओ परमात्मा वह लड़की मिल जाय। पर वहाँ कहीं लड़की न थी। वह कहते हुए डोलते फिरे कि बीबी, यह रहा तुम्हारा रुपया ! पर लड़की वहाँ कहाँ थी कि सुने। रुपया हाथ में लिये हसरत से वह सोचते रह गये कि अब वह उन्हें और कहाँ मिलेगी ?

सस्ता साहित्य मण्डल